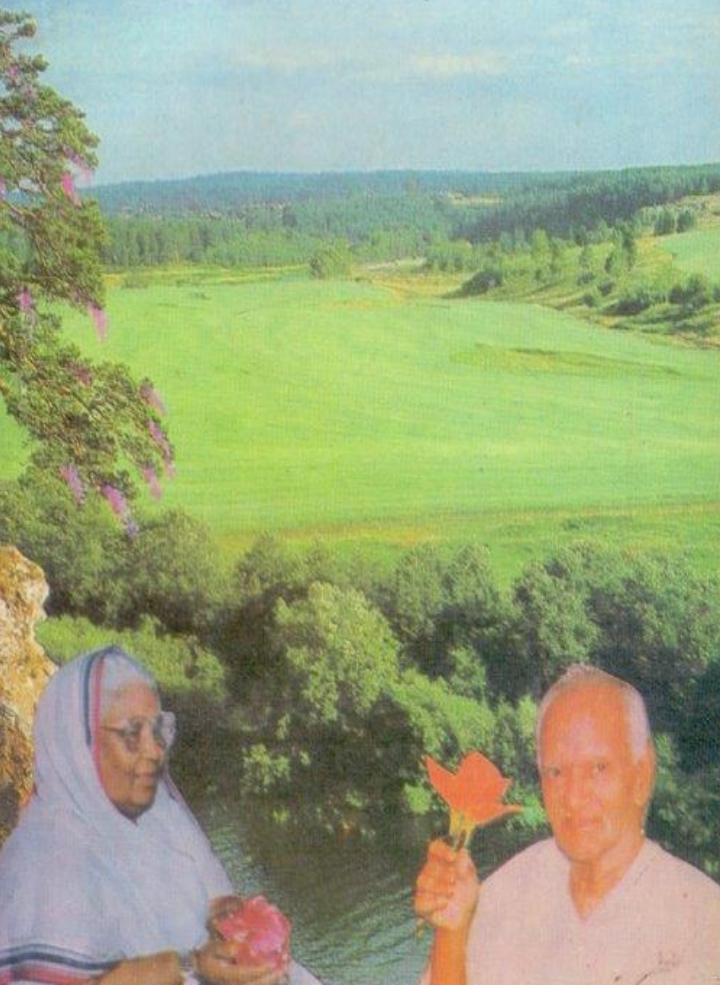


मातृसत्ता श्रद्धांजलि पुस्तकमाला - ४७

विश्व की महान नारियाँ

भाग-१



विश्व की महान नारियाँ

भाग—१



लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००



पुनर्मुद्रित सन् २०१३

मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३



लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



सर्वाधिकार सुरक्षित



मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३

नारियाँ जागें-अपने को पहिचानें

नारियों में अपरिमित शक्ति एवं क्षमताएँ सन्निहित हैं। जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में उन्होंने कीर्तिमान स्थापित किए-हैं, अपने अदम्य साहस, अथक संघर्षशीलता, दूरदर्शी बुद्धिमत्ता आदि विविध गुणों का परिचय दिया है। मानवीय संवेदना, करुणा, ममत्व और वात्सल्य तो नारी की सामान्य विशेषताएँ हैं ही, परंतु जिन क्षेत्रों में सदियों से पुरुषों ने अपना आधिपत्य जमा रखा था, उनमें भी प्रवेश कर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है, यदि वे चाह लें—एक बार संकल्प कर लें, तो उन क्षेत्रों में भी वे अपनी श्रेष्ठता एवं विशिष्टता सिद्ध कर सकती हैं।

प्रस्तुत संकलन में हम 'युग निर्माण योजना' में प्रकाशित विश्व की ऐसी महान नारियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं जिनसे प्रेरणा लेकर भारतीय नारियाँ अपने जीवन को सँवार-सजा सकती हैं।

अब समय आ गया है जबकि भारतीय नारियों को घर की चहार दिवारी से बाहर निकलना ही होगा। खुले आकाश के तले एक सद्संकल्प लेकर विचरना होगा। राष्ट्र निर्माण एवं विश्वशांति के क्षेत्र में अपनी-अपनी भूमिका निश्चित कर अपनी अंतर्निहित शक्तियों एवं क्षमताओं का परिचय देना ही होगा।

परम वंदनीया माता भगवती देवी शर्मा का जीवन आदर्श हमारे सामने है। भारतीय नारियाँ उनसे प्रेरणा लेकर उनके स्वप्नों को साकार करने में तन-मन-धन से जुट जाएँ—यही उन दिव्य महिमा मंडित शक्तिस्वरूपा के प्रति महिला जगत की सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—व्यवस्थापक

विषयानुक्रम

क्र० विषय	पृष्ठांक
१. फ्रांस की राष्ट्रमाता-जोन ऑफ आर्क	५
२. संघर्षशील क्रांतिकारिणी-लुई माइकेल	१२
३. मानवता एवं राष्ट्रीयता प्रेमी-मार्था	१७
४. नारी जागरण की अग्रदूत-श्रीमती मोतोको हानी	२२
५. फ्रांस की स्वातंत्र्य सिंहनी-मादाम रोलां	२७
६. तिहरे मोर्चों पर सफल सन्नद्ध-मैडम च्यांग कार्ई शेक	३२
७. नारी जागरण की प्रथम नेत्री-मादाम सनयात सेन	३६
८. ममता की मूर्ति-मारिया मांतेस्सरी	४०
९. अमेरिका की महान समाज सेविका-श्रीमती रूजवेल्ट	४४
१०. निःस्वार्थ एवं कर्मठ सेविका-इजाबेला थोर्बन	४९
११. सेवा की प्रतिमूर्ति-माता टेरिजा	५३
१२. मानवता की पक्षधर-डोरोथिया डिक्स	५६
१३. सोलडाड की संरक्षिका-डोना लिलियन	६०



फ्रांस की राष्ट्रमाता

जोन ऑफ आर्क

पंद्रहवीं शताब्दी की बात है। अंग्रेजों ने फ्रांस पर हमला किया। उस समय फ्रांसीसी सेनाओं का नेतृत्व कर रही थी एक महिला वीरांगना जोन। ओइसा नदी के किनारे बसे कंपेन शहर के पास एक ओर जोन अपने साथियों के साथ मोर्चा ले रही थी, दूसरी ओर थे संख्या बल तथा साधन बल में बड़े-चढ़े अंग्रेज सैनिक। प्रारंभ में तो जंग्रेजों के छक्के छूटने लगे। स्वदेश और स्वतंत्रता प्रेमी फ्रांसीसी सेनाओं के मुकाबले शस्त्रादि सज्जित अंग्रेजी सेना पीछे हटने लगी। तभी अंग्रेज सेनापतियों ने छल नीति से काम लिया और जोन तथा उसके सैनिकों को दोनों ओर से घेर लिया।

अपनी स्थिति कमजोर देखकर वीरांगना जोन ने सैनिकों को रणक्षेत्र छोड़कर हट जाने का आदेश दिया। अंग्रेजी सेनाएँ तो केवल जोन को ही गिरफ्तार करना चाहती थीं जिसने आरंभ में घुटने टेक रहे फ्रांस को जगाकर खड़ा कर दिया था। फ्रांसीसी सेना रणक्षेत्र छोड़कर भागने लगी। अंग्रेजों ने उसका पीछा किया और जोन को चारों ओर से घेर लिया। फ्रांसीसी सैनिक तो भाग निकले अकेली वही अभिमन्यु की तरह आक्रमणकारियों के चक्रव्यूह में फँस गई और अंग्रेजों ने उसे गिरफ्तार कर लिया।

इसके बाद की कहानी मानव सभ्यता के इतिहास पर कलंक ही कही जानी चाहिए। अंग्रेजों ने जोन को निर्दयतापूर्वक यंत्रणाएँ दीं परंतु उन्होंने अंतिम समय तक मुँह को नहीं खोला और पराजय को स्वीकार नहीं किया। एक बार भागने का प्रयत्न किया परंतु दुर्भाग्य से पैर फिसल गया और वे दुबारा पकड़ ली गईं। जोन को बड़ी ही क्रूरता के साथ मृत्यु दंड दिया गया। उन्हें जिंदा जला दिया गया। स्वतंत्रता और राष्ट्रप्रेम की ज्योति जलाने वाली फ्रांस की यह वीरांगना अंग्रेजों की क्रूरता का सामना करते हुए सदा-सदा के लिए इस

दुनियाँ से चली गई, परंतु उन्होंने अंत तक अपना आत्म विश्वास नहीं खोया। अंतिम समय उन्होंने यही कहा कि जो अंग्रेज युद्ध में बचे हुए हैं, और विजय का अभिमान कर रहे हैं, वे शीघ्र ही देश से बाहर खदेड़ दिए जाएँगे।

३० मई १४३१ को रोयन के मैदान में जोन को खड़ा कर आग लगा दी गई, परंतु उन्होंने अपने हत्यारों के लिए ईश्वर से प्रार्थना की और वही शब्द कहे जो कभी ईसा ने अपने हत्यारों के लिए कहे थे। जोन ने उन्हीं भावनाओं को दोहराया—“हे ईश्वर! इन्हें क्षमा करना क्योंकि ये मुझे जला कर मानव इतिहास में मुझे अमर बना रहे हैं। भले ही भविष्य में मुझे भुला दिया जाए, परंतु मेरा विश्वास है कि यह बलिदान व्यर्थ नहीं जाएगा।”

‘प्रतिकूल और प्राणघातक परिस्थितियों में भी मंगल देखने का स्वभाव मनुष्य को कितना सुख-संतोष प्रदान करता है’—जोन की ये उक्तियाँ इस बात का ज्वलंत प्रमाण हैं।

सचमुच ही यह बलिदान रंग लाया। जोन के आत्मोसर्ग ने फ्रांस की आत्मा में जादू फूँक दिया। उनकी मृत्यु ने देश को झकझोर कर रख दिया। वहाँ की जनता उठ खड़ी हुई और एक ऐसी आँधी आई, जिसमें अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पंजों से धीरे-धीरे पूरा फ्रांस खिसकने लगा। गाँव के बाद गाँव और नगर के बाद नगर विदेशी दासता के चंगुल से निकलते गए और फ्रांस एक सशक्त राष्ट्र के रूप में उदित हुआ।

‘जोन ऑफ आर्क’ की जीवन कथा नारी की शक्ति और साहस की कहानी है। एक चुनौती है उन लोगों के लिए जो मातृशक्ति को अबला और रक्षिता कह कर उसे पुरुष की तुलना में महत्त्वहीन और गौण बताते हैं। जिस जाति के लोगों ने पाँच सौ वर्ष पूर्व अपनी ही जाति की इस वीरांगना को जीवित जला दिया था, उन्होंने ही बाद में उसे मनुष्यता का गौरव कहा। सन् १९०९ में रोम के पोप ने जोन ऑफ आर्क को बड़ी ही भावभीनी शब्दावलि में श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

उनका जन्म फ्रांस के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में एक किसान के घर सन् १३९२ ई० में हुआ। उस समय शिक्षा का प्रचार बिल्कुल न था। पादरियों और संपन्न लोगों के परिवारों तक ही दुनियाँ भर का ज्ञान-विज्ञान सीमित रहता था। पादरी भी धर्म का मनमाना अर्थ समझा-

बुझा कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर लेते थे। अशिक्षा के अंधकार में ही धर्म का विकृत स्वरूप फलता-फूलता है। यही कारण है कि उस समय पूरा यूरोप अंधविश्वासों का घर बना हुआ था। धर्मतंत्र केवल धनिकों और संपन्न लोगों का शस्त्र मात्र था जो गरीबों के शिकार में काम आता था। धर्माचार्य भी फीस लेकर और पापों के नाश होने का प्रमाण पत्र देकर उन लुटेरों को भी लूटा करते और लूटने के लिए प्रोत्साहित किया करते।

ऐसे अंध युग में एक गरीब किसान की बेटी का पढ़-लिख सकना कहाँ संभव हो सकता था। इसलिए जोन अपने माता-पिता के काम में ही मदद करती। इसी दौरान फ्रांस के शासक वर्ग विदेशी अंग्रेजों का व्यवहार भी इस अबोध बालिका के देखने में आया। विदेशी शासकों के अत्याचारों की कहानी के संबंध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। लगभग सभी जानते हैं कि गुलाम और पराधीन देश के नागरिकों को किन परिस्थितियों में जीना पड़ता है। जोन को यह सब अच्छा नहीं लगा।

समझ का विकास होते होते उन्होंने भी यह अनुभव कर लिया कि इस समय फ्रांस पर दूसरे देश के लोगों का राज्य है। वहाँ की जनता भी अनेकों बार स्वशासन की माँग कर चुकी थी परंतु उन्हें बड़ी निर्दयता पूर्वक दबा दिया गया था। फ्रांस की सत्ता हस्तगत करने की कहानी भी बड़ी छल-छद्म भरी नीतियों और षडयंत्रों की घटना है। फ्रांस के छठवें शासक चार्ल्स ने अपनी बेटी का विवाह इंग्लैंड के पंचम हेनरी से किया था। कालांतर में जब चार्ल्स की मृत्यु हुई तो पंचम हेनरी जबरन ही उसका उत्तराधिकारी बन बैठा। इस अनीति और अन्याय के विरुद्ध जगह-जगह उपद्रव भी हुए परंतु इससे स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया।

हेनरी के शासकीय कर्मचारी और सैनिक उस समय फ्रांस में भरे हुए थे और अधिकार-उन्माद में मनमानी करते रहते थे। जोन जब चौदह वर्ष की ही थी तब एक ऐसी घटना घटित हुई कि उन्होंने अपने देश को आजाद करने का संकल्प ले लिया। एक दिन वे अपने घर से खेत पर जा रही थीं। रास्ते में बाजार पड़ता था। बाजार में उन्होंने एक अंग्रेज को किसी दुकानदार से उलझते देखा। आसपास काफी संख्या में लोग खड़े थे। जोर-जोर से चिल्लाता हुए अंग्रेज दुकान पर चढ़ गया और वहाँ रखा हुआ सामान उठा-उठा कर

सड़क पर फेंकने लगा। दुकानदार का कसूर इतना सा था कि उसने अंग्रेज को दिए सामान का मूल्य मांग लिया था।

इतनी सी बात पर अंग्रेज ने बेचारे दुकानदार की सब चीजें उठा-उठा कर फेंक दी थीं और लोग खड़े-खड़े देखते रहे। जोन के बाल मन ने अंग्रेज के इस व्यवहार को अनुचित स्वीकार किया, फिर भी उसकी समझ में एक बात नहीं आई कि सब कुछ जानते हुए भी लोग तटस्थ क्यों खड़े थे। दिन भर वह इसी घटना के बारे में सोचती रही, संध्या समय अपने पिता से इस घटना के बारे में पूछा कि लोग यह सब चुपचाप क्यों देख रहे थे।

“बेटी वह अंग्रेज सरकार का आदमी था—पिता ने समाधान दिया—इसलिए वह ऐसा कर रहा था।”

“सरकार क्या होती है?”

“लोगों को सुखी बनाने के लिए कुछ लोग सरकार बनाते हैं और ऐसी व्यवस्था करते हैं।”

“पर बाबा इससे कौन सुखी होगा”—जोन ने शंका प्रकट की।

“उन्हें मनमानी तो नहीं करना चाहिए। लोगों को ऐसी सरकार हटा देनी चाहिए”—जोन बोली और उसने निश्चय भी कह सुनाया—
“बाबा मैं इस सरकार को हटाऊँगी।”

पिता ने जोन को डाँटा कर चुप कर दिया, परंतु सरकार को हटाने की भावना उसके मन में पलती रही और वह रोज अपने इस निश्चय को दोहराया करती कि मैं विदेशियों को अपने देश से हटाकर रहूँगी।

इन्हीं संकल्प-विकल्पों के वातावरण में जोन बढ़ती रही। घर के काम-काज में भी उनका मन नहीं लगता। जोन तो दिन-रात अपने देश को आजाद कराने का स्वप्न देखती रहीं। संकल्प और विचारों ने उनमें एक आत्मविश्वास भर दिया कि मैं अपने देश को इंग्लैंड के चंगुल से मुक्त करा लूँगी और जीवन भर इसी के लिए प्रयत्न करूँगी। जोन ने अपना सारा जीवन इस महत्त-उद्देश्य के लिए समर्पित करने का निश्चय कर लिया।

दिन बीतते गए। निरंतर वह बचपन से यौवन की ओर बढ़ती गई। स्वाभाविक ही माता-पिता को अपनी बेटी के विवाह की चिंता हुई। उन्होंने उपयुक्त वर तलाश कर जोन के सामने विवाह का

प्रस्ताव रखा, परंतु जोन ने विवाह के विषय में ही प्रश्न कर डाला—
“बाबा! शादी करने के बाद क्या मैं अपने देश को आजाद करवा सकूँगी?”

“हाँ”—पिता ने कहा—“अगर तुम्हारा पति भी चाहे तो।”

“तो फिर मैं जीवन भर कुँआरी रहूँगी। किसी को अपने अनुकूल बनाने के लिए ही भारी प्रयत्न करना पड़े तो शादी करने से क्या लाभ?”

पारिवारिक उत्तरदायित्व से मुक्त रहकर और अधिक निष्ठा तथा परिश्रम के साथ सबल प्रयत्न करने के लिए जोन ने शादी का प्रस्ताव ठुकरा दिया। उनकी सुंदरता पर मुग्ध होकर एक अमीर व्यक्ति ने भी रिश्ते का प्रस्ताव किया। माता-पिता इस रिश्ते को किसी भी प्रकार हाथ से जाने नहीं देना चाहते थे। उधर जोन भी आजीवन कुँआरी रहने का व्रत ले चुकी थी। पिता ने प्रेम, प्रलोभन और धमकी के सभी उपाय कर लिए परंतु एक भी उपाय सफल नहीं हुआ। यहाँ तक कि मार डालने का भय दिखाया फिर भी जोन टस से मस नहीं हुई। निश्चय सो निश्चय, व्रत सो व्रत। एक बार जिस निर्णय पर पहुँच गई उससे हट जाना तो कायरों और बुजदिलों का काम होता। जोन जैसी दृढ़ निश्चयी आत्माएँ तो अपने निश्चय पर दृढ़तापूर्वक स्थिर रहती हैं।

अमीर आदमी ने जो जोन की सुंदरता पर मुग्ध होकर उससे शादी करने के लिए लालायित था—यह अफवाह फैला दी कि जोन उसके साथ शादी करने के लिए तैयार हो गई है। इस अफवाह की खबर जब इस संकल्पव्रती युवती को लगी तो उन्होंने अमीर आदमी की अच्छी खबर ली और उसे डांट-डपट कर भगा दिया।

अब विवाह की ओर से निश्चित हो जाने से जोन घुड़सवारी और शस्त्र संचालन का अभ्यास करने लगी चिर साध को पूरी करने के लिए वे बड़ी ही लगन और निष्ठा के साथ अपनी शारीरिक क्षमता और शस्त्रास्त्र संचालन में पारंगतता बढ़ाने लगीं। इस अध्याय ने जोन के संकल्प और आत्मविश्वास को और भी सुदृढ़ बना दिया। लक्ष्य साधना के लिए किए गए कोई भी प्रयास आत्म विश्वास की सुदृढ़ता में बड़े सहायक सिद्ध होते हैं जो कि सब सफलताओं का मूल है।

१४२८ में बेडफोर्ड के ड्यूक ने फ्रांस पर हमला किया। बरगंडी के सम्राट की सहायता से ड्यूक ने फ्रांस के कई छोटे-मोटे स्थानों पर विजय प्राप्त कर ली और कुछ ही महीनों बाद आरलिंग्स के आस-पास घेरा डाल दिया जो इस देश के प्रमुख अंगों में से था। राजा से मिल कर ड्यूक ने आरलिंग्स को घेर लिया और किले की नाके बंदी कर दी। जीवनोपयोगी वस्तुएँ समाप्त हो जाने पर किले के भीतर की जनता अपने आप ही आत्मसमर्पण कर देगी, यह सोचकर वह कई दिनों तक घेरा डाले पड़ा रहा। जोन ने जब यह सुना तो वह बड़ी उत्तेजित हुई। उन्होंने आरलिंग्स के उद्धार की योजना बनाई और चुपचाप घर से निकल भागीं। क्योंकि वे जानती थी कि खुल कर वे आसानी से अपने घर की चहार दीवारी से बाहर नहीं निकल सकेंगी। द्रुतगामी घोड़े पर सवार होकर वे अपने मामा के पास पहुँची जो जोन को कई प्रकार से प्रोत्साहित किया करता था। मामा डूरेंड के पास जाकर सारी बातें उन्होंने स्पष्ट कह दीं। दोनों ने मिलकर निश्चय किया कि किसी भी प्रकार राजा से मिलना चाहिए। परंतु इस आपत्ति काल में राजा से मुलाकात भी तो संभव नहीं थी। मामा सर्व प्रथम गवर्नर से मिला और जोन तथा उसके उत्साह, योग्यता और भावनाओं का उल्लेख किया।

एक किसान की दरिद्र बेटी इस संकट में क्या सहायता कर सकेगी-यह सोचकर गवर्नर ने जोन को वापस माता-पिता के पास जाने का परामर्श दिया। दुबारा जोन स्वयं मिलने गई। परंतु इस बार गवर्नर ने तो मिलने से भी इंकार कर दिया। जोन और उनके मामा इससे बिलकुल भी निराश नहीं हुए और बार-बार राजा से मुलाकात के लिए गवर्नर को मनाने की चेष्टा करने लगे। अंततः गवर्नर पसीजा। इधर माता-पिता को भी जोन के भाग जाने और आरलिंग्स पहुँचने के समाचार मिले। वे दौड़े हुए वहाँ आए और जोन से वापिस लौट चलने के लिए कहने लगे, परंतु वह तो अपने निश्चय की पक्की निकली।

जोन के साथ कुछ और ऐसे लोग भी मिले जो फ्रांस में अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहते थे। गवर्नर से अनुमति लेकर १४ फरवरी १४२८ को वे सब अपने प्रिय सम्राट से भेंट करने के लिए चल पड़े। राजभवन तक पहुँचने के लिए मीलों दूरी का

रास्ता तय करना पड़ता था। मार्ग के कष्टों को सहते हुए जोन अपने साथियों सहित चार्ल्स से मिलने पहुँची। चार्ल्स ने उनकी परीक्षा कर बहादुर और साहसी बाला कह कर सम्मानित किया तथा उनके वीरतापूर्ण प्रदर्शन तथा ओजस्वी और प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण अपनी सेना की कुछ टुकड़ियों का नेतृत्व सौंप दिया।

जोन अपने साथी सैनिकों के साथ अंग्रेजी सेनाओं से बड़ी वीरतापूर्वक लड़ने लगीं। एक युवती के साहसपूर्ण कृत्यों को देखकर अंग्रेजों में बड़ी खलबली पैदा हुई। धर्मवीर अंग्रेज सिपाहियों में किसी प्रकार यह धारणा फैल गई कि जोन के साथ ईश्वरीय शक्ति काम कर रही है। अंग्रेज सिपाहियों ने आसानी से इस बात पर विश्वास कर लिया क्योंकि अभी तक उन्होंने किसी भी स्त्री को इतनी वीरतापूर्वक लड़ते नहीं देखा था। फलस्वरूप अंग्रेजी सेना का मनोबल टूटने लगा और वे पीछे हटने लगी और आरलिंग्स का घेरा टूट गया। इस विजय का समूचा श्रेय जोन को दिया गया और उन्हें आरलिंग्स कुमारी का सम्मान मिला। चार्ल्स का अभिषेक रिमूस में बड़ी धूमधाम के साथ संपन्न हुआ। वर्षों बाद फ्रांस के एक बहुत बड़े भाग में स्वशासन की स्थापना संभव हो सकी थी।

परंतु अभी तो काफी काम शेष था। आरलिंग्स का बहुत बड़ा भाग भले ही अपने हाथ में आ गया हो फिर भी देश का अधिकांश हिस्सा तो अभी भी विदेशियों के कब्जे में ही था। चार्ल्स ने अपनी सेना का नेतृत्व जोन को सौंपा और आरंभ हुआ विजय अभियान। साहस और शौर्य की देवी जोन को अपने साथ देखकर सैनिक त्याग और बलिदान की भावनाओं से प्रेरित होकर मर मिटने के लिए भी तत्पर हो गए और पीछे न हटने का संकल्प लेकर रणक्षेत्र में कूद पड़े। परिणाम स्वरूप एक के बाद एक शहर विदेशी शासन के चंगुल से मुक्त होते गए। जय के बाद जय मिलने लगी। परंतु फ्रांसीसी सेना में विजय के अभिमान से उददंडता, चरित्रहीनता और दुर्विनय के रोग फैलने लगे। जोन को इससे बड़ी निराशा हुई। उन्होंने सैनिकों को सचेत किया कि अगर यही स्थिति रही तो देश को आजाद करने के लिए हजार जन्म भी कम होंगे।

युद्ध जारी रहा परंतु फ्रांसीसी सेनाओं की भ्रष्टता अपना परिणाम दिखाने लगी। उसी के फलस्वरूप अंततः जोन को आत्मोत्सर्ग करना पड़ा। नैतिक क्षीणता ने फ्रांसीसी सेनाओं का मनोबल तोड़कर

रख दिया था। इसी कारण ओइस नदी के किनारे कंपेन के मैदान में वह पकड़ी गई और उन्हें जीवित जला दिया गया। उनकी शहादत ने फ्रांसीसी जनता और सेना को अपनी गलतियाँ सुधारने के लिए प्रेरित किया और दीर्घ संघर्ष तथा जोन की आजीवन साधना के फलस्वरूप उनका देश आजाद हुआ।

स्वाधीनता की मीठी वायु में साँस लेते हुए फ्रांसीसी अपनी उन राष्ट्रमाता जोन को कभी भुला न सकेंगे जिन्होंने स्वयं को देश के लिए बलिदान कर दिया। शायद वे दुनियाँ की सर्वप्रथम महिला सेनापति थीं। जिनका हर चरण विजय की सीढ़ियों पर ही पड़ता था।

संघर्षशील क्रांतिकारिणी लुई माईकेल

ब्रानकोर्ट (फ्रांस) के एक वकील परिवार में वहीं की एक किसान बाला सेवा-चाकरी कर अपना तथा अपने परिवार का पोषण करती थी। संपन्नता और समृद्धि दिशाहीन युवकों के नैतिक और चारित्रिक पतन का ही कारण बनती है। फ्रांस में भी ऐसे युवकों की कमी नहीं थी, जो अपने आस-पास फैले विपुल विलास साधनों में मानव मूल्यों को गौण और महत्त्वहीन समझने लगते थे। ऐसे ही वातावरण में पल रहे वकील एटनी चाली डेहमिस के पुत्र लारेंट डेहमिस ने दासी कन्या को अपनी मीठी बातों से बहका दिया। विवाह संबंध, भविष्य का सुख और जिस संपन्न परिवार की वह नौकरी कर रही थी उसके स्वामित्व की प्राप्ति का प्रलोभन। लारेंट के दिखाए सब्ज बागों ने भोली-भाली कृषक कन्या को विमुग्ध कर लिया। लारेंट ने इस भोलेपन का अनुचित लाभ उठाया और उसके पवित्र शरीर से अपनी वासना पूर्ति करता रहा। कुछ दिनों तक यह प्रणय लीला चुपचाप चलती रही। जब उसका परिणाम सामने आया तो लारेंट काम का बहाना बना कर वहाँ से चलता बना। जाते समय वह उस भोली युवती का सुख स्वप्न भंग करना भी न भूला।

जितने हरित और मधुर सपने उसे नरपशु लारेंट ने दिखाए थे उनके टूटने पर वह युवती जीवन से ही निराश हो गई। डेहमिस की कोठी पर काम करना छोड़ कर वह अपने घर बैठ गई। दो-चार

दिन बीतने पर डेहमिस ने सोचा कि शायद दासी की तबियत खराब हो गई होगी। परंतु जब अधिक दिन गुजरे और दासी न आई तो वस्तुस्थिति क्या है—यह जानने के लिए वे उस नौकरानी युवती के घर पहुँचे।

नौकरानी ने वकील साहब के पुत्र की करतूतों और उनका परिणाम किस रूप में सामने आया है, रो-रोकर सब कुछ बता दिया। डेहमिस को बड़ी व्यथा हुई। अपने पुत्र के कारण एक अबोध और निर्दोष कन्या का जीवन बरबाद होने के कारण उन्हें लॉरेंट पर और स्वयं अपने पर भी बड़ा क्रोध आया। जब प्रणय-संबंध इस सीमा तक बढ़ चुके थे कि विवाहित जीवन के बाद की स्थिति में से गुजरना पड़ रहा था तो लॉरेंट अपने वायदे से क्यों मुकर गया।

डेहमिस के मन की व्यथा-वेदना ममत्व और वात्सल्य के रूप में बह निकली। उन्होंने जीवन से निराशा और अपनी भूल से व्यग्र दासी को ढाढ़स बँधाया। उसे आश्रय देने का आश्वासन देने लगे तो अघोषित पुत्रवधू ने कहा—“मात्र आश्रय देने से ही मुझे जीवन और सम्मान थोड़े ही मिल जाएगा वकील साहब! यह जीवन तो ज्यों का त्यों ही खंडहर बना रहेगा। एक खंडहर को सहारा देकर बनाए रखने में क्या लाभ, उसको तो टूटने देना ही अच्छा है।”

डेहमिस ने पूछा—“आखिर तुम चाहती क्या हो बेटी? तुम पर जो बीती है और तुम्हारी व्यथा दोनों को मैं अच्छी तरह समझता हूँ। अब भी यदि तुम मेरे घर की बहू बनना ठीक समझो तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।”

दासी-बाला को जैसे अपना स्वत्व मिल गया और वह वकील साहब के भवन की स्वामिनी बनकर आई। इसी विशाल भवन में २६ मई १८३० को लुई माईकेल ने जन्म लिया। उनका पुत्र, लुई माईकिल का पिता लॉरेंट अभी तक घर नहीं लौटा था। लौटा उस समय जब लुई १६-१७ वर्ष की किशोरी बन गई थी। इस अवधि में वह बाहर रंगरलियाँ मनाता रहा। पिता के पास वह अपनी नई पत्नी को भी साथ लाया। इतने दीर्घ विछोह ने डेहमिस के पितृ हृदय से समस्त क्रोध को धो फेंका था। लॉरेंट की नई पत्नी, लुई माईकिल, और लुई की माँ और अतीत की सभी घटनाओं से भली-भाँति परिचित थी। इसलिए वह लुई के मन में हीन ग्रंथि डालने के लिए

कुटिल प्रयास करने लगी। शब्दों के हेर-फेर से बात बात पर लुई के प्रति उसका यही भाव व्यक्त होता—“तू दासी-पुत्री है। अनैतिक संबंधों से तेरा जन्म हुआ है। जारज संतान को अपनी औकात नहीं भूलना चाहिए।”

डेहमिस की मृत्यु के बाद लारेंट और उसकी पत्नी ने लुई तथा उसकी माता को कोठी से बाहर निकाल दिया। वे नौकरों के कमरों में आकर रहने लगे। डेहमिस को इस बात की संभावना-आशंका पहले से ही थी इसलिए उन्होंने पहले ही काफी पैसा इन माँ-बेटी के नाम सुरक्षित रखवा दिया था। अपनी सौतेली माँ और पिता के व्यवहार ने लुई को क्षुब्ध भी किया और रुष्ट भी। सौतेली माँ अपने दुर्व्यवहार से वहाँ भी बाज न आई और लुई की सगी माता तो इसकी अभ्यस्त हो चुकी थी, पर किशोरी, उत्साही, स्वाभिमानी लुई को यह सब बड़ी मुश्किल से सहन होता। स्थिति जब ज्यादा विकट होने लगी तो लुई को वहाँ से बाहर पढ़ने के लिए भेजा गया।

वे चौमंट नामक शहर में रहने और पढ़ने लगीं। शिक्षा समाप्त कर लुई ब्रानकोर्ट के पास ही गाँव में अध्यापिका हो गई। लुई अब पूर्णतया वयस्क और आसपास के वातावरण के प्रति सजग दृष्टि संपन्न हो चुकी थी। पेरिस में भी उन्होंने अध्यापन कार्य किया। उस समय की सामाजिक परिस्थितियों से लुई के मानस पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पेरिस में एक ओर तो लखपति-करोड़ पतियों के आलीशान महल थे, दूसरी ओर गरीब, निर्धन मजदूरों की गंदी टूटी-फूटी झोंपड़ियाँ। महलों की नींव और निर्माण में इन निर्धनों का ही खून पसीना बनकर बहा और उनमें मौज उड़ाई अपने आपको समझदार बुद्धिमान कहने वाले चरित्रहीन अमीरों ने। लुई माइकेल का पिता लारेंट भी इन्हीं चरित्रहीन अमीरों में से एक था। अभिजात वर्ग प्रधान समाज व्यवस्था ने लुई माइकेल के हृदय में तीव्र विद्रोह उत्पन्न कर दिया और पैदा हुई निर्धनों-शोषितों के प्रति करुणा-सहानुभूति। वे इसी मानसिक अंतर्द्वंद्व को लेखनी से अभिव्यक्ति कर समाज को चैतन्य बनाने लगीं। अध्यापन काल में ही उन्होंने समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं में लिखना आरंभ कर दिया था।

पेरिस में अध्यापिका का कार्य करते हुए उन्हें जो वेतन मिलता था, वह व्याप्त मँहगाई में निर्वाह करने के लिए अपर्याप्त था। फलस्वरूप उन्हें प्रायवेट ट्यूशन भी करना पड़तीं। राजनैतिक

विचारधाराओं का अध्ययन, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र का मंथन भी जीविकोपार्जन के साथ-साथ चलता रहा।

उन दिनों समाज में एक ऐसा जागरूक वर्ग भी तैयार होता जा रहा था, जो इस अन्यायमूलक और अनीतिप्रधान समाज को बदलने के लिए आतुर था। लुई माईकेल भी इन संगठनों से प्रभावित हुई और उनके कार्यक्रमों में आने-जाने लगीं। तब तक मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा का प्रकाश भी फ्रांस में फैलने लगा था। लुई माईकेल को समतावादी समाज संरचना का यह विचार बहुत पसंद आया और वे अपनी संपूर्ण शक्ति से लोगों को तैयार करने में अन्याय और अत्याचार का सामना करते हुए जुट गईं।

लुई माईकेल की रचनाएँ मूलतः समाज के हित की और सुधारवादी विचारों से भरी होती थीं। गहन अध्ययन और गंभीर चिंतन से निःस्सृत ये लेख बड़े प्रभावोत्पादक होते थे। साहित्यकारों के लिए, जो अनुपयोगी और विलास-शृंगार के भावों को भड़काने वाली कृतियाँ लिख रहे थे, एक तीव्र फटकार इनमें होती थी। उन्होंने एक बार लिखा था—“प्रत्येक कलाकार का उद्देश्य समाज का उद्धार होना चाहिए। आज की परिस्थितियों में यह और भी आवश्यक है कि कला विचार के धरातल पर समाज को प्रभावित करे।” उन्होंने लेखनी से ही नहीं वाणी से भी क्रांति का प्रचार किया। टीस और अंतर्व्यथा जब व्यक्त होती है तो हजारों लोगों को झकझोर देती है। लुई के लेख और भाषण लाखों-हजारों लोग पढ़ते-सुनते और प्रभाव ग्रहण करते।

इस बढ़ती लोकप्रियता ने फ्रांस के पूँजीपतियों और शासकों को चिंतित कर दिया। किसी न किसी प्रकार लुई माईकेल को समाप्त करना ही चाहिए अन्यथा वह हमारे स्वार्थों पर तीव्र आघात करेगी—ऐसा विचार उनमें पनपा। इसलिए उन्होंने एक आदमी को बहकाया और शराब पिलाकर लुई को गोली मारने के लिए तैयार कर लिया। एक मजदूर सभा में जब वे भाषण दे रही थीं तो उस व्यक्ति ने लुई पर गोली दाग दी। गोली कान के पास लगी और वे भयंकर रूप से घायल हो गईं। उपचार के लिए उन्हें अस्पताल ले जाया गया। जब वे होश में आईं तो पुलिस उस व्यक्ति को लेकर उनके पास पहुँची, जिसने गोली चलाई थी। लुई ने उसे निर्दोष बताकर छोड़ देने के लिए कहा। वे जानती थीं कि एक मजदूर

उनके खिलाफ कभी कुछ नहीं कर सकता। सचमुच वह था भी उकसाया गया।

पुलिस ने तो न्याय और कानून की रक्षा के लिए अपनी कार्यवाही की। ऐसे अवसर पर वे लोग जिन्होंने हत्या करने का प्रयास करने वाले मजदूर की पीठ पर हाथ रखा था, पीछे हट गए। अपने वायदे के मुताबिक उन्होंने न तो मजदूर की कोई सहायता की और न उसके परिवार की सहायता की। सहायता की तो उस महान विदुषी ने जो कि उसकी पिस्तौल का निशाना बनी थी। लुई ने मजदूर को सभी प्रकार की कानूनी मदद और उसके परिवार को सांत्वना-सहायता दी। घाव हालांकि गंभीर था परंतु उन्होंने यही कहा कि मामूली खुरसट है। अपराधी को निर्दोष और निर्बलता का रोगी बताकार उसका बचाव किया। इस घटना ने उन्हें बहुत प्रसिद्ध कर दिया।

क्रांतिकारियों का संगठन बढ़ने और सुदृढ़ होने लगा आश्वस्त होकर लुई तथा उनके सहयोगियों ने मिलकर एक निश्चित समय पर क्रांति की योजना बनाई। अब तक उन लोगों का ध्यान और गतिविधियाँ जनमानस में क्रांति के प्रति आस्थाएँ उत्पन्न करने में ही लगा था। जब विश्वास हो गया तो १८ मार्च १८७१ को क्रांति का बिगुल बज उठा। लुई भी अपनी साथियों के साथ थी। इष्ट-अनिष्ट की चिंता न करती हुई माँ अपनी बेटी के पास पहुँच गई। क्रांति विफल हुई, परंतु उनका मन विजयी रहा।

पेरिस के कमांडर जनरल ने क्रांतिकारियों को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया। फ्रांसीसी सैनिकों ने २५ हजार निरपराध स्त्री-पुरुषों और बच्चों को निर्ममता पूर्वक मार डाला। लुई इन लोगों की रक्षा में प्राणपण से लगी रही। जनरल को जब पता चला कि इस क्रांति की सूत्रधार एक अधेड़ स्त्री है और उसके साथ स्त्री की माँ भी अपनी बेटी की चिंता लिए घूम रही है तो उसने माँ बेटी के परस्पर प्रगाढ़ प्रेम संबंधों का अनुमान लगाया। लुई पर हाथ डालना जान जोखिम का खेल है—यह सोचकर उसने लुई की माँ को ही पकड़ लिया और धमकी दी कि यदि लुई ने आत्मसमर्पण न किया तो उसकी माँ को गोली मार दी जाएगी।

इस क्षण उन्हें माँ की चिंता हुई। अभी तक वे संसार के सर्वोच्च सम्मान की अधिकारिणी स्वयं के लिए माँ को ही मानती आ रही थीं। क्रांति तो विफल हो ही गई है और बचना भी मुश्किल, लगभग

असंभव ही है, इसलिए क्यों न आत्मसमर्पण कर माँ को बचा लिया जाए—यह सोचकर उन्होंने आत्मसमर्पण का निर्णय ले लिया।

लुई ने आत्मसमर्पण कर दिया। न्यायालय में मुकदमे का नाटक चला तो उन्होंने कहा—“जो कुछ भी हुआ है उसकी पूरी जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर लेती हूँ। मुझे मालूम है कि स्वाधीनता और न्याय के लिए लड़ने का परिणाम क्या मिलेगा—गोली की शक्ति में शीशे का एक टुकड़ा। मैं उस पुरस्कार को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ। परंतु याद रखना मुझे मारकर आप लोग इस देश के लाखों लोगों की आवाज अब नहीं दबा सकेंगे।”

न्यायाधीश लुई की लोकप्रियता से अच्छी तरह परिचित थे इसलिए उन्होंने सोच-विचार कर उन्हें मृत्युदंड न देते हुए निर्वासन और दीर्घ कैद की सजा दी। उन्हें आठ वर्ष तक न्यूकेला डोनिया में कठोर यातनाएँ सहनी पड़ीं। इन यंत्रणाओं ने उन्हें शरीर से क्षीण और अशक्त भले ही बना दिया हो परंतु उनका मन तो सशक्त और सुदृढ़ बनता गया। यातनाओं को उन्होंने तप रूप में स्वीकार किया। इसी कारावधि में उनकी माता का स्वर्गवास भी हो गया। आठ वर्ष बाद वे जब जेल से मुक्त हुईं तो सरकार ने सोचा था कि उनके हृदय में बसने वाली आग ठंडी हो गई होगी।

परंतु वे तो कारावास से मुक्त होते ही पुनः क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लेने लगीं। सरकार और पूँजीपति उनके विरुद्ध फिर षडयंत्र रचने लगे। यहाँ तक कि उन्हें पागल सिद्ध करने की कुटिल योजना भी बनाई गई, परंतु लुई अपनी समझदारी और शौर्य के बल पर उन्हें सदैव विफल करती रही। मजदूर भी उनसे इतने प्रभावित थे कि उनके विरुद्ध चलने वाले हर षडयंत्र का पता चलते ही भंडाफोड़ कर देते। १० जनवरी १९०५ को पचहत्तर वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हो गया।

मानवता एवं राष्ट्रीयता प्रेमी मार्था

युद्ध में मात्र युद्धरत देशों के सैनिक ही नहीं मारे जाते, अपरिमित धन ही विनाश कार्य में नहीं लगता जिससे कि इस सृष्टि को और भी सुंदर बनाया जा सकना संभव था, वरन जीवन भी त्रस्त और व्यथित हो उठता है। युद्ध ही इतना भयंकर होता है तो फिर महायुद्ध

की तो कल्पना ही सिहरा देने वाली होती है। वस्तुतः यह युद्ध की प्रवृत्ति मनुष्य के जंगलीपन का व्यवहार है। फिर भी मनुष्य इस जंगलीपन से बाज नहीं आता, युद्ध बंद नहीं हुए हैं। पिछले महायुद्ध की स्मृतियाँ धुँधली नहीं पड़ी हैं और न भावी महायुद्ध की आशंकाएँ ही समाप्त हुई हैं।

प्रथम महायुद्ध के पीछे जर्मनी के राष्ट्र नायक की संकीर्ण विचारधारा और घृणित महत्वाकांक्षाओं का ही हाथ था। उसने सारे संसार को संकट में डाल दिया था। उसके इन घृणित इरादों को धूल में मिलाने में कॉलेज की एक छात्रा ने जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया वह एक प्रेरक सत्यकथा बनकर रह गया है। यह छात्रा थी बेल्जियम के उबेजक नगर वासिनी कुमारी मार्था। मार्था ने न केवल कैसर के नापाक इरादों से प्रेरित जर्मन सेना के विरुद्ध गुप्तचर का काम करके लंदन नगर को बचाया, उनकी भयंकर चालों को असफल बनाया वरन् उसने युद्ध के कारण मानवता के शरीर पर लगे घावों की सेवा द्वारा मरहम पट्टी भी की थी।

मार्था ने अभी जीवन के कुल अठारह वसंत देखे थे कि उन्हें भयंकर पतझड़ से सामना करना पड़ा। अभी वह मेडिकल कॉलेज में पढ़ रही थी। श्वेत परिधान पहने, गले में स्टेथिस्कोप लटकाए अपने भावी जीवन की उमंगों में भरी वह कॉलेज जाया करती थी। तभी उसके देश पर विनाश के बादल मँडरा आए। २ अगस्त १९१४ को जर्मन सेनाओं ने उसके देश बेल्जियम पर धावा बोल दिया। बेल्जियम की सेना को पीछे हटना पड़ा, जर्मन सेनाएँ आगे बढ़ती गईं। अपने देश की रक्षा के लिए मार्था के चारों भाई सेना में भरती हो गए।

बेल्जियम के अजेय दुर्ग लीज ओर लाजूर भी जर्मन सेना के अधिकार में आ गए। अब तक मार्था का अपना नगर जर्मनों के हाथ में नहीं आया था फिर भी वह भावी के लिए अपने आप को तैयार कर चुकी थी। उसके नगर से युद्ध पीड़ित शरणार्थियों के काफिले गुजरते तो उसकी भीतरी करुणा उसे रुला देती।

अब तो अंग्रेज व फ्रांसीसी सेना भी बेल्जियम की सहायता के लिए आ पहुँची थीं। उनके सैनिकों ने उजबेक नगर के सुदृढ़ भवनों में अपनी मोर्चाबंदी की थी। उन्हीं मकानों में मार्था का एक पैतृक मकान भी था। इतना सब होने पर भी उजबेक को बचाया नहीं जा

सका। उस पर जर्मन सेना का अधिकार हो गया। परिवार वालों पर संकट आ उपस्थित हुआ, उन्हें पकड़ कर बंदी बना लिया गया। सभी कैदियों को अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया। महिलाओं को मकानों में बकरियों की तरह ठूस दिया गया। मार्था को इस बंदी से मुक्ति मिली नर्स की वृत्ति अपना कर। मार्था को जर्मन सेनाधिकारियों ने नगर अस्पताल में नियुक्त कर दिया।

थोड़े ही समय में उसका स्थानांतर रुला नगर के चिकित्सालय में हो गया। इस युद्धजनक दुरावस्था से उसका हृदय बहुत व्यथित था। युद्ध को रोकना तो उसके हाथ में नहीं था पर वह युद्ध की भयंकरता को अपनी सीमित सामर्थ्य से कुछ कम तो कर ही सकती थी। उसे अपना कर्तव्य दिखाई दिया—रोगियों और घायलों की पूरी निष्ठा से सेवा करना। उसने थोड़े ही समय में अपनी कार्य कुशलता, सुंदर व्यवहार, सेवा आदि से एक ओर जहाँ जर्मन अधिकारियों का विश्वास प्राप्त कर लिया वहीं अपने देशवासियों की सेवा करके कर्तव्य का पालन भी किया। रोगियों में वह लिटिल मदर के नाम से विख्यात हो गई।

युद्ध अपनी जगह है तो सेवा अपनी जगह। मानवता और दानवता के इस संघर्ष में मार्था ने मानवता का पक्ष लिया था। वह दिन-रात पीड़ितों-घायलों की सेवा में लगी रहती थी। कौन बेल्जियम वासी है और कौन जर्मन-इस भेद को उन्होंने भुला दिया। वस्तुतः वे सभी मानव थे जो संकुचित राष्ट्रवाद का शिकार होकर एक दूसरे की जान के ग्राहक बने हुए थे। घृणा को प्रेम से ही जीता जा सकता है—यह सोचकर उन्होंने जर्मन सैनिकों से घृणा करना छोड़ दिया। उसे घृणा थी जर्मन राष्ट्र नायक के संकुचित राष्ट्रवाद से जिसके कारण जर्मन सेना के भी कितने ही सैनिक मृत्यु के ग्रास हो रहे थे, कितने ही घायल हो रहे थे, कितने ही अपाहिज हो रहे थे। मानवता की इसी पीड़ा को हरने के लिए वह अहर्निश सेवा में जुटी रहीं।

इन्हीं दिनों उसे अपने सहपाठी का एक गुप्त संदेश मिला। उस संदेश के अनुसार वह निश्चित स्थल पर पहुँची। सहपाठी ने प्रस्ताव रखा कि उसे ब्रिटिश गुप्तचर विभाग में सम्मिलित होकर अपने देश को जर्मन आक्रमणकारियों से बचाने का उद्योग करना चाहिए। मार्था उससे सहमत हो गई। उसने सोचा कि जर्मन सेनाधिकारियों का उसे जो विश्वास प्राप्त हो चुका है उससे वह निश्चय ही लाभ उठा

सकती है। वह ब्रिटिश गुप्तचर विभाग में सम्मिलित हो गई। दल में उसका अपना नया नाम रखा गया। अन्य आवश्यक जानकारियाँ भी उसे दे दी गई।

काम बड़ी जोखिम का था किंतु वह अपने देश की स्वाधीनता और विश्व शांति की सुरक्षा के लिए बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने को तैयार थी। एक दिन उसे अपने विभाग की ओर से सूचना मिली कि इस नगर में शस्त्रास्त्रों व गोला-बारूद का विशाल भंडार संचित होता जा रहा है। आवक जारी है। इसका पता लगाना चाहिए ताकि उसे रोकने की कार्यवाही की जा सके।

मार्था ने बड़ी चतुराई से गोला-बारूद की स्पेशल ट्रेन आने का पता घायल सैनिकों को लाने के लिए जा रही एम्बुलेंस के साथ रेलवे स्टेशन जाने पर लगा लिया। इस बात की सूचना उसने गुप्त रूप से अपने दल को दे दी। इस विभाग ने उस स्पेशल ट्रेन को ही उड़ा दिया जो गोला-बारूद लेकर आ रही थी।

मार्था के इस आचरण को क्या विश्वासघात कहा जा सकता है? नहीं, क्योंकि कभी-कभी सत्य बोलना भी हानिकारक हो सकता है। इसकी अपेक्षा चुप रहना भी श्रेयस्कर हो सकता है। विवेक का प्रयोग मनुष्य को हर समय करना पड़ता है। यहाँ यदि मार्था यह सोचकर रह जाती कि उसे जर्मन सैनिकों व सेनाधिकारियों के विश्वास की रक्षा करना चाहिए तो यह अनुचित बात होती।

जहाँ सेवा का प्रश्न था वह बेल्जियम वासियों और जर्मन सैनिकों में कोई भेद नहीं करती थी। पीड़ितों की सेवा करना तो मानव धर्म है पर जो लोग अन्याय और अनैति के पक्ष में हैं उनके साथ वैसा ही व्यवहार तो नहीं किया जा सकता जो न्याय और नीति के पक्षधरों के साथ किया जा सकता है।

एक दिन उसके पास ब्रिटिश गुप्तचर विभाग से सूचना आई कि रदाब्रुक नगर में एक ऐसा गुप्त टेलीफोन केंद्र है जहाँ पर उनके अपने दल का कोई भेदिया सारी खबरें भेज देता है। उस केंद्र को समाप्त करना है। इस विषय में पता लगाना चाहिए।

रदाब्रुक उसके नगर से बीस किलोमीटर दूर था। वहाँ जाना बड़े खतरे का काम था। मार्था ने उन खतरों को मौल लेते हुए, अपने प्राणों पर खेल कर इस कार्य को पूरा किया। इसके लिए उसे हजार झूठ बोलने पड़े, कितने ही वेश बदलने पड़े, एक आदमी को बुरी

तरह आहत भी करना पड़ा पर उसने अपने इस राष्ट्र हित के कार्य को पूरा कर दिखाया।

यह कार्य पूरा करके जब वह पुनः अपनी ड्यूटी पर आई तो उसका हृदय धक्-धक् कर रहा था। यदि इस बात का पता जर्मन सेनाधिकारियों व गुप्तचरों को लग गया तो निश्चित रूप से उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा पर वैसा हुआ नहीं। अपने डेरे पर लौटने पर उसे जो शत्रु संदेश मिला वह यह था कि जर्मन सम्राट ने उसे चिकित्सा क्षेत्र में सर्वोच्च सम्मान—‘आयरन क्रॉस’ से सम्मानित किया है। इस सम्मान की प्राप्ति से उसे कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। उसने सम्मान की गरज से सेवा नहीं की थी। सेवा का पुरस्कार तो उसे आत्मसंतोष के रूप में मिल चुका था। आयरन क्रॉस उसकी उस मानवीय भावना का यथार्थ पारितोषक भी नहीं था जो उससे बिना थके, बिना रुके अठारह-अठारह घंटे घायलों का उपचार करवाता था, सेवा करवाता था।

मार्था का सबसे बड़ा कार्य लंदन नगर को राख होने से बचाना था। जर्मनी कोई ऐसा आविष्कार कर रहा था जिससे उसकी विजय हो सकने की संभावनाएँ बलवती हो सकती थीं। इस संबंध में उसके जासूसों ने प्राणों की परवाह नहीं करके जानकारीयाँ जुटाईं। उन्हीं जानकारीयों व पूर्व सूचनाओं के आधार पर लंदन नगर की रक्षा और जर्मनी द्वारा आविष्कृत नए जेप्लिन यानों की सीमा पर ही समाप्ति संभव हो सकी थी।

रुला नगर के बाहर स्थित जर्मनी के बारूद-गोदाम को उड़ाने के लिए मार्था ने अपने एक साहसी साथी के साथ नगर की उन भूमिगत गुप्त सुरंगों में, जहाँ साँप-बिच्छू जैसे कई विषैले जंतुओं ने डेरा जमा रखा था, प्रवेश किया और गोदाम में डायनामाइट रखने का दुःसाहसिक कार्य भी पूरा किया। गोदाम उड़ा दिया गया पर इस बार वह जर्मन गुप्तचरों से बच न सकी। उसकी नाम खुदी हुई घड़ी, जो सुरंग में गिर गई थी उन्हें मिल गई। इस छोटे से सूत्र के सहारे वे उसकी सारी कार्यवाहियों का पता चलाने में सफल हो गए। उसे मृत्युदंड देने का निर्णय दिया गया पर उसकी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए इसे आजन्म कारावास में बदल दिया गया। उसे जेल में डाल दिया गया। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की पराजय होने के साथ ही बेल्जियम से उसका अधिपत्य समाप्त हुआ। मार्था को

जेल से मुक्ति भी मिली और राष्ट्रीय सम्मान भी मिला। मार्था का यह अनुकरणीय सेवा और साहसपूर्ण कार्य नवयुवकों के लिए प्रेरणा व प्रकाशदीप का कार्य करेगा।

नारी जागरण की अग्रदूत

श्रीमती मोतोको हानी

पचहत्तर वर्ष के आतप और शीत ने उस ठिगनी सी महिला के शरीर को तने हुए धनुष सा झुका दिया है, किंतु उसकी उमंगें, उसका क्रांतिकारी व्यक्तित्व ज्यों का त्यों उतुंग शिखर की सी दृढ़ता लिए सीना ताने खड़ा है। सत्य तथा लोकहित का पक्ष लेकर जीवन भर संघर्ष करना—यही उसके जीवन का परिचय कहा जा सकता है।

इस छोटे से शरीर में क्रांति का वह ज्वालामुखी समाया हुआ है जिसने जापान में नारी स्वातंत्र्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन करने का बीड़ा उठाने का साहस किया। उनके 'जियु गाकुएन' (स्वतंत्रता विद्यालय) को जापान के शिक्षा बोर्ड ने आज तक मान्यता नहीं दी है। बोर्ड ने उनके विद्यालय का नामोनिशान मिटा देने की धमकियाँ भी दीं। परंतु वह उनके आगे झुकी नहीं वरन अडिग चट्टान सी खड़ी रहीं। अब वह अपना स्वतंत्र कॉलेज व विश्वविद्यालय खोलने जा रही हैं। वह तेजस्वी महिला हैं—श्रीमती मोतोको हानी।

उनके विद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में अधिकांश लड़कियाँ हैं। ये विद्यार्थी यहाँ पुस्तकीय ज्ञान की परिधि में बँधे कूप-मंडूक नहीं बनाए जाते वरन उनमें अपने व्यक्तित्व के विकास की, भावी जीवन की समृद्धि तथा सार्थकता की पूरी-पूरी सामर्थ्य विकसित की जाती है। यह जापान में अपने ढंग का अनोखा लोकप्रिय विद्यालय है। रूढ़ियों के मोटे-मोटे रस्सों से जकड़े जापान में यह स्कूल राजनैतिक क्रांति से, विप्लव से कम अहमियत नहीं रखता।

मोतोको बचपन से ही व्यक्ति तथा समाज की प्रगति में बाधक रूढ़ियों से टकराने, उन्हें तोड़ने में एक अनोखा आत्मसुख पाती थीं। यह दैवी प्रेरणा तथा सामर्थ्य उनके अंतःकरण की आवाज बनकर उन्हें महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए विवश करती रही थी।

मोटोको का जन्म एक साधारण जापानी परिवार में हुआ था। उस समय जापान में महिलाओं की दशा बहुत दयनीय थी। वे हर क्षेत्र में पुरुष से नीची मानी जाती थीं। उनका बुरी तरह शोषण किया जाता था। नारियों का क्षेत्र घर की चहार दीवारी में सिमट कर रह गया था, सामाजिक क्षेत्र तो उनके लिए लगभग अवरुद्ध ही था। अपने गाँव की वह प्रथम महिला थी जिसने टोकियो देखा था। बचपन में वह रिक्शे पर बैठकर चौदह दिन के लिए टोकियो की यात्रा पर निकली थी।

वह प्रथम बालिका थी जिसने प्राथमिक शिक्षा पूरी करके हाईस्कूल में प्रवेश लेने के लिए आवेदन पत्र प्रेषित किया था। हाईस्कूल के अध्यापकगण अकेली लड़की को प्रविष्ट होते देखकर आश्चर्यचकित रह गए थे। मैट्रिक पास करने के बाद वह एक पाठशाला में अध्यापिका बन गई।

अध्यापिका बन कर ही वह संतुष्ट नहीं हो सकती थी। वह अपने देश की नारी में वह साहस उत्पन्न करना चाहिती थी कि वह पुरुषों से अपना हक माँगे, समानता का स्थान प्राप्त करे। उसके लिए अध्यापिका बनकर रह जाना पर्याप्त नहीं था। वह ऐसे अवसर की खोज में रहने लगी जब उसके विचार देश के चोटी के समाचार पत्रों में प्रकाशित हों तथा कागज के वाहनों पर बैठकर वह घर-घर जाए, प्रत्येक महिला के मन में सिकुड़े-सिमटे लजाकर बैठे आत्मविश्वास को जगाए। वह अपने विचारों के माध्यम से प्रत्येक पुरुष के हृदय द्वार को खटखटाए तथा उससे पूछे कि अपनी अर्धांगिनी को इस प्रकार पद दलित करके उसे कौन सा सुख मिल रहा है। वह अपने ही पाँवों पर कुल्हाड़ी मारने की यह मूर्खता क्यों कर रहा है?

वह नित्य अपने स्कूल पढ़ाने के लिए जाती तो एक समाचार पत्र के कार्यालय को देखकर उसकी श्वेत आँखों में आंकाक्षाओं के लाल डोरे उभर आते, उनमें भावी जीवन के सुनहरे रेखाचित्र बनने लगते। यह कार्यालय जापान के प्रमुख समाचार पत्र 'होची' का प्रधान कार्यालय था। उसके चलते हुए कदम कुछ क्षणों को वहाँ ठहर जाते। ऐसा लगता अभी भीतर से कोई दौड़कर उसे बुलाएगा तथा उससे इस पत्र की स्तंभ लेखिका बनने का अनुरोध करेगा।

सचमुच एक दिन वह आमंत्रण उसे मिला। किंतु स्तंभ लेखिका बनने के लिए नहीं प्रूफ रीडर बनने के लिए। अवसर मनुष्य के

सामने हाथ फैलाए स्वागत करने नहीं आता वरन मनुष्य को सजग होकर उछलती गेंद की तरह अवसर को लपक लेना पड़ता है। जो गाफिल रहते हैं वे भाग्य का रोना रोते रहते हैं। किंतु दोष भाग्य का नहीं उनका अपना होता है। वह गाफिल नहीं थी। समाचार पत्र में आवश्यकता की सूचना पढ़ते ही उसने आवेदन किया, साक्षात्कार के लिए बुलाया गया, योग्यता को परखा गया, वह अन्य प्रतियोगियों को पीछे धकेल कर अपनी योग्यता के बल पर चुन ली गई।

प्रूफ रीडर बनना मोतोको की प्रगति का प्रथम सोपान था। अब उसने अपना सुदृढ़ चरण दूसरे सोपान पर रखा। अपनी एक सुंदर रचना उसने संपादक की टेबुल पर रखी। संपादक ने पढ़ी तो प्रवाहमय भाषा, सजीव चित्रण तथा मार्मिकता के इस अनूठे संगम को देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ। भागता हुआ उसके पास आया और रचना को दिखाते हुए पूछा—“यह किसने लिखी?”

“मैंने”

“यह तो बड़ी सुंदर है।”

उसी दिन से वह जापान के सर्वश्रेष्ठ पत्र की स्तभ की लेखिका बना दी गई।

यहीं उसका संपर्क एक युवक से हुआ। वह भी उसी पत्र के संपादन विभाग से संबंधित था—नाम था योशी जाकू। अब तो वह भी संपादन विभाग में ही थी। वह अब जापान के सभी वर्गों की महिलाओं से साक्षात्कार करके उसकी भावनाओं, उनके विचारों को अपने पत्र में प्रकाशित करती थी।

अब तक परंपरा के अनुसार माता-पिता अपनी कन्या के लिए वर का चयन करते थे। मोतोको ने इस परंपरा को तोड़ते हुए एक दिन योशी जाकू से विवाह कर लिया। इस विवाह का आधार उनके विचारों का साम्य था। दोनों ही सामाजिक क्रांति करना चाहते थे।

एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाते हैं। किंतु मोतोको और योशी जाकू तो अकेले ही ग्यारह हजार के बराबर थे। दोनों के मिलन ने उस दावानल का सूत्रपात किया जिसने जापानी नारी को बाँधकर रखने वाले मोटे रस्सों को जलाकर भस्मीभूत कर दिया।

‘होची’ के संपादन विभाग में काम करते हुए वे खुले रूप से अपने विचारों को जनता के सामने नहीं रख सकते थे। उन्हें पत्र की नीति के दायरों में रहकर लिखना पड़ता था। उन दोनों ने स्वतंत्र

अभिव्यक्ति के लिए अपना पृथक पत्र निकालने की जोखिम मोल ली तथा 'फुजिन नो टोमो' (महिला साथी) नामक अखबार निकाला। उनके पास साधन तो सीमित थे किंतु उनका अपना श्रम, मेधा तथा साहस उस कमी को पूरा कर देता था। वे स्वयं समाचार बनाते, लेख लिखते, कंपोज करते, प्रूफ पढ़ते, छापते, ग्राहकों से पत्र व्यवहार करते, यहाँ तक कि कार्यालय में झाड़ू भी वे ही लगाते थे। उनका यह परिश्रम रंग लाया तथा एक वर्ष में ही इस पत्र के एक लाख ग्राहक हो गए। समाचार पत्र समृद्ध हो गया। उन्होंने अपने सहकर्मियों की नियुक्तियाँ भी कर लीं।

इस दंपति के एक पुत्र तथा एक पुत्री उत्पन्न हुई। इन बालकों को अपने माता-पिता के गुण पैतृक संपदा की तरह मिले थे। ये स्कूलों में पढ़ने जाते तो वहाँ की बातें घर आकर बताया करते थे। स्कूलों की पढ़ाई एक ढर्रे पर चलती थी। बच्चों को कोरा पुस्तकीय ज्ञान दिया जाता था। यह सब मोतोको के लिए असह्य था। वह अपने पति से इस ढर्रे के विपरीत ऐसा स्कूल खोलने के विषय में विचार करने लगी जिनमें बच्चों का सर्वांगीण विकास करने का प्रबंध हो।

इनके इस विचार-विनिमय को बच्चे सुना करते थे। एक दिन नन्हीं कीतो (उनकी पुत्री) अपने माता-पिता के इस निश्चय की सूचना अपने सहपाठियों तथा अध्यापकों के सामने खुलकर कह आई—“हम तो लड़कियों के सार्वजनिक हाईस्कूल में प्रवेश नहीं लेंगे। हमारे पिताजी तथा माताजी हमारे लिए अपना अलग स्कूल खोल रहे हैं। उनमें इन स्कूलों की तरह की पढ़ाई थोड़े ही होगी। वहाँ बच्चों को रट्टू और दब्बू नहीं बनाया जाएगा।”

कीतो की यह घोषणा निरर्थक नहीं गई। अगले वर्ष ही हानी दंपति ने टोकियो में अपना स्वतंत्र विद्यालय खोल दिया। इस विद्यालय के खुलने की सूचना, उसका प्रयोजन तथा प्रणाली का विवरण उन्होंने अपने पत्र के माध्यम से जन-जन तक पहुँचा दिया।

पहले वर्ष इसमें २६ विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया। प्रति वर्ष यह संख्या बढ़ती ही गई। इस विद्यालय की पद्धति जापान के प्रचलित स्कूलों से सर्वथा भिन्न थी। बच्चों पर एक सी पोशाक तथा अनावश्यक अनुशासन का भार नहीं लादा गया। उन्हें साक्षर तथा शिक्षित बनाने के साथ-साथ जीवन जीने की कला तथा मानव जीवन के उद्देश्य की शिक्षा भी दी जाती थी।

इसमें पढ़ने वाली अधिकांश लड़कियाँ ही थीं। ये लड़कियाँ अपने कपड़े धोने, शरीर की स्वच्छता से लेकर घर के रख-रखाव की पूरी जानकारी प्रयोगात्मक रूप से पाती थीं। गणित तथा हिसाब-किताब का ज्ञान बाजार से खरीददारी करवा के सिखाया जाता था। व्यावसायिक तथा स्वावलंबन की शिक्षा भी दी जाती थी। बच्चों में स्वविवेक उत्पन्न हो यह शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था।

अध्यापकों का चुनाव श्रीमती हानी ने डिग्रियाँ देख कर नहीं उनकी योग्यता देखकर किया था। प्रत्येक जापानी स्कूल में उस समय राजा का चित्र लगा रहता था तथा उसके नीचे राजा के दीर्घायु होने तथा प्रजा को उसका वफादार रहने की सीख लिखी रहती थी। यही स्कूल ऐसा था जिसने इस परंपरा को तोड़ा था।

यहाँ के बालकों ने जो कार्य किए वे बड़े ही चौंका देने वाले हैं। उन्होंने अपना सहकारी उद्योग खोल लिया है। उसके लिए उन्होंने टोकियो के सबसे बड़े थियेटर में 'हेमलेट' नामक प्रसिद्ध नाटक का प्रदर्शन करके धन एकत्रित किया।

इस क्रांतिकारी स्कूल को शिक्षा बोर्ड ने मान्यता देने से इन्कार कर दिया। छात्रों के अभिभावक घबराए कि उनके बालकों का भविष्य अंधकारमय हो जाएगा। उन्हें आगे नौकरियों में स्थान नहीं मिलेगा। कुछ ने तो अपने बालकों को स्कूल से निकाल भी लिया किंतु उस स्कूल के बच्चों की प्रगति को देखते हुए इसके छात्रों की संख्या बढ़ती ही गई। १९३५ में इस विद्यालय ने टोकियो में २५ एकड़ का खेत अपने विद्यार्थियों को प्रयोगात्मक कृषि सिखाने के लिए खरीदा। इस विद्यालय में पढ़ने वाले बच्चों को नौकरी की आवश्यकता ही नहीं रही। उन्होंने पढ़ते हुए ही स्वावलंबी बनकर अपना सहकारी औद्योगिक संस्थान बना लिया। यही नहीं, उन्होंने लोक शिक्षण का महत्त्वपूर्ण दायित्व भी निभाया। समय-समय पर यह विद्यालय प्रदर्शनियाँ लगाकर जन शिक्षण करता जिसके विषय होते—'अपने घर कैसे बनाओ, बच्चों को कैसे पालो, उनसे कैसा व्यवहार करो, आर्थिक स्थिति कैसे सुधारी जाय, देश की प्रगति में सहायक कैसे बनें आदि।'

सन् १९४५ में इस विद्यालय ने १७० एकड़ का अपना नया फार्म खरीदा है। इस विद्यालय को अभूतपूर्व सफलता मिली है। यह वस्तुतः हानी दंपति की सफलता है।

शिक्षा बोर्ड ने इसे मान्यता नहीं दी वरन् उसके अधिकारियों ने श्रीमती हानी को अपने स्कूल के नाम से 'स्वतंत्रता' शब्द हटाने को विवश किया पर उन्होंने मना करते हुए कहा कि इसे हटा देने से तो हमारा उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। कितनी ही धमकियों के बावजूद वे उनके सामने झुकी नहीं।

पचहत्तर वर्ष की आयु में भी वह अन्य जवान अध्यापकों से दुगुना काम करती हैं। उनके बच्चे भी अब उसी स्कूल में अध्यापक हैं। जापान के महिला समाज के उत्थान के लिए इस प्राणवान महिला ने जो काम किया है वह अनुपम है। हमारे देश में भी नारी उत्थान के लिए ऐसा ही साहस जुटाने की आवश्यकता है।

फ्रांस की स्वातंत्र्य सिंहनी

मादाम रोलां

स्त्रियों की जिंदगी का क्रम सामान्यतः एक निर्धारित शृंखला में ही बँधा हुआ चलता रहता है। लाड़-प्यार में बचपन बीतना, अपने घर जाकर एक छोटी सी दुनिया बसा लेना, उसे सजाते-सँवारते रहने में ही अपनी सारी आयु बिता देना और शरीर थक जाने पर मौत के दिन गिनने लगना।

किंतु रोलां का जीवन इस क्रम से एकदम भिन्न था। बचपन ज्ञानार्जन की पिपासा में व्यतीत हुआ, यौवन क्रांति की ज्वालाएँ सुलगने में और वृद्धावस्था ? वह तो आ भी न पाई और सिद्धांतों की उपासिका सिद्धांतों की बलिवेदी पर एक आहुति बनकर स्वाहा हो गई।

फ्रांस में जन्म लिया था इस वीरांगना ने। धनाढ्य परिवार की एक मात्र संतान। घर के सभी परिजनों की नेत्रज्योति बनकर आई थी वह। घर के प्रत्येक कोने में उसके लिए प्यार ही प्यार बिखरा हुआ था।

पर उसे यह तनिक भी अच्छा न लगता। सुख के साधन उसे काटते से प्रतीत होते। ऐश्वर्य तथा वैभव उसे मजाक उड़ाते हुए से लगते-गरीबों का, असहायों का, गुलामों का तथा संपूर्ण त्रस्त मानवता का।

रोलां की बुद्धि इतनी तीव्र थी कि यौवन आते-आते वह धर्म, संगीत, इतिहास, दर्शन शास्त्र, चित्रकला, नृत्य तथा विज्ञान की अच्छी जानकार हो गई थी। सारा समय विद्यार्जन में लगता था या फिर तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन में।

अब माता-पिता की इच्छा हुई कि इसका विवाह कर देना चाहिए। प्रश्न सर्वथा सामयिक तथा उचित था। एक अत्यंत रूपवान्, स्वस्थ, धनकुबेर ढूँढ़ा गया। किंतु माँ ने जब रोलां की इच्छा जाननी चाही तो उसने स्पष्ट कह दिया कि मुझे किसी धनी के यहाँ विवाह नहीं करना है। गरीब व्यक्ति हो जो मेरे समान ही आदर्शवादी हो।

पिता भी दुःखी हुए किंतु रोलां को तैयार न किया जा सका। उसके मस्तिष्क में तो फ्रांस की वर्तमान अराजकता के प्रति गहरा विद्रोह मचा हुआ था।

तभी उसे एक पार्टी में जाने का अवसर मिला। वहाँ उसने देखा कि सभी स्त्रियाँ मूल्यवान् परिधानों में हैं तथा बहुमूल्य हीरे-जवाहरातों के आभूषणों से सुसज्जित हैं। कोई वस्तु लाने में एक दास को एक मिनट की देर हो गई। तभी पड़ा उसके गाल पर करारा तमाचा।

और रोलां को लगा जैसे चोट उसके ही गाल पर लगी हो।

एक बार फिर एक राजसी परिवार की पार्टी में जाना पड़ा उसे। वहाँ एक दास के हाथ से गिरकर एक कीमती शराब की बोतल टूट गई। आसपास वालों ने कहा—“बहुत कीमती शराब थी।”

किंतु काँच धँस जाने से लाने वाले दास के पैर से जो रक्त बह रहा था वह रोलां को ही द्रवित कर सका और किसी का तो ध्यान भी नहीं गया उस ओर। और सब तो उसे गाली देने तथा पीटने में ही लगे हुए थे।

और इस घटना ने उसके कोमल हृदय पर इतना गहरा आघात पहुँचाया कि वह वहाँ बैठी न रह सकी, उठकर चली गई। और उसने विचार किया, “ऐसी व्यवस्थाओं को बदलना ही होगा जहाँ शराब की कीमत अधिक हो मनुष्य के रक्त से।”

और उसने क्रांतिकारी दलों से संपर्क स्थापित करना आरंभ कर दिया। विचार तेजी से कार्य करने लगे।

तभी एक पार्टी में उसकी भेंट हुई एक पचपन वर्षीय वयोवृद्ध सज्जन से। उनसे बातचीत होने के पश्चात् रोलां को ज्ञात हुआ कि वे

वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं से असंतुष्ट हैं और अधिक परिचय के पश्चात् उसने पाया कि उसके विचारों की पूर्णता इन महापुरुष में है। और उसने अपने पिता से कहा कि मुझे मेरी पसंद का पति मिल गया है।

पिता ने 'पति' को देखा और अपना माथा ठोक लिया। साफ मना कर दिया। पचपन वर्ष का वृद्ध और वह भी गरीब आदमी।

किंतु रोलां ने कहा—“ठीक है तब मुझे कहीं दूसरी जगह भी विवाह नहीं करना है।” और उसके मन में पता नहीं कैसी विरक्ति उत्पन्न हुई कि एक रात घर से निकलकर एक मंदिर में चली गई। वहाँ दिन-रात धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करती हुई एक तपस्विनी का सा जीवन बिताने लगी।

आखिर पिता को हार माननी पड़ी और रोलां का विवाह उक्त सज्जन से कर दिया गया।

रोलां अपने पति के साथ एमिन्स नगर में रहने लगी। बहुत प्रसन्न, बड़ी संतुष्ट, अत्यधिक तृप्त। उसे कभी आयु की असमानता न खटकती। विवाह उसके लिए शारीरिक मिलाप न होकर आत्मा का तथा विचारों का मिलन था। वह अपने पति को ऐसा ही प्रेम करती जैसा किसी उपास्य को किया जा सकता है। उसके सिद्धांत पुष्ट हो रहे थे सहारा पाकर। अब उसे लगता था कि मेरी कार्य क्षमता और भी बढ़ गई है।

तभी ये लोग एमिन्स नगर छोड़कर अपने गाँव चले गए। यहाँ रोलां ने गरीबी को और भी अधिक निकट से, और भी अधिक स्पष्ट रूप में देखा। दिल का दरद और भी बढ़ गया। घाव और भी गहरा हो गया।

इसी समय फ्रांस में युगांतरकारी राज्य क्रांति हो गई। शोषित वर्ग शोषण कर्त्ताओं के ऊपर हावी हो गया। रोलां को तो ऐसे समय की प्रतीक्षा ही थी। उसके पति तथा वह दोनों क्रांति की इस पुकार को सुनकर सक्रिय रूप से उसमें भाग लेने चल पड़े।

रोलां के पति 'पुर समिति' के वरिष्ठ सदस्य बनाए गए। सन् सत्रह सौ इक्यानवे में समिति की ओर से परिषद की कार्यवाही में भाग लेने के लिए उन्हें पेरिस भेज गया। रोलां भी साथ गई थी।

यहाँ रोलां ने ऐसे सारगर्भित तथा ओजस्वी भाषणी दिए कि कई बुद्धिजीवी विचारशील व्यक्ति उसके अनुयायी हो गए।

पर विरोधी दल का सामना यहाँ भी करना पड़ा। यहाँ भी उन दिनों 'पितियन', 'ब्रिसो' तथा 'बूजो' आदि का बड़ा शोर था। ये लोग भी फ्रांस में प्रजातांत्रिक शासन स्थापित करना चाहते थे। किंतु रोलां की तथा इनकी नीतियों में गहरा अंतर था। फिर भी रोलां की बुद्धिमत्ता, साहस, कार्य क्षमता तथा योग्यता का उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रगट में उस समय कोई विरोध न किया।

अब रोलां का अधिकांश समय फ्रांस की राजनीतिक गुत्थियाँ सुलझान में ही व्यतीत होता। दिन-रात उसे इन्हीं कार्यों को करते हुए बीत जाता। उसे एक ही धुन थी। फ्रांस में प्रजातांत्रिक शासन स्थापित करना।

अब तक उसके अनेक अनुयायी बन गए थे जो 'गिरोडिस्ट' कहलाते थे। आखिरकार प्रयत्न सफल हुए। मादाम रोलां के अथक श्रम के फलस्वरूप शासन की बागडोर गिरोडिस्ट दल के हाथ में आ गई। इस दल के नए मंत्रिमंडल का निर्माण मोशिए रोलां (रोलां के पति) के नेतृत्व में हुआ। मादाम रोलां तो जैसे समस्त व्यवस्थाओं के कण-कण में ही व्याप्त थी।

किंतु यह सब बहुत दिन तक नहीं चल सका। विरोधी दल और भी उग्र रूप धारण कर चुका था। उसे यह किसी भी प्रकार सहन न हुआ कि रोलां को विजयश्री की माला पहनने का श्रेय तथा सौभाग्य प्राप्त हो।

रोलां का मार्ग सत्य तथा ईमानदारी का था। उसका उद्देश्य राज्य में नीति सदाचार, समानता तथा शांति की स्थापना करना था।

किंतु विरोधी दलों का उद्देश्य इसमें कुछ भिन्न ही-केवल राजनीतिक गुंडागर्दी मात्र था। उनका प्रभाव बढ़ा और शासन सत्ता की बागडोर गिरोडिस्ट दल के हाथ से निकलकर विरोधी तत्त्वों के हाथ में चली गई।

किंतु इतना सब होने पर भी विरोधियों को संतोष न हुआ। उन्हें निरंतर यह भय बना रहा कि कहीं पुनः रोलां के नेतृत्व में जनता भड़क कर हमारी सरकार को पदच्युत न कर दे। अतः उसने रोलां तथा उसके पति को बुरी तरह बदनाम करने की योजना बनाई।

कुछ उल्टे-सीधे आरोप लगाकर पहले रोलां के पति को बंदी बनाया गया। किंतु प्रमाण के अभाव में वे कुछ न कर सके और मोशिए रोलां निर्दोष घोषित किए जाकर स्वतंत्र कर दिए गए।

पर इस बार अचानक ही एक दिन रोलां को घर से पुलिस बुलाकर ले गई। रोलां ने सोचा—“यह तो एक दिन होना ही था।” वह स्थिर चित्त तथा शांत भाव से उसके साथ चली गई। केवल इतना पूछा—“कहाँ चलना होगा?”

उत्तर मिला—“जेल !” “बिना किसी अपराध के जेल”—कुछ समय में न आया। पूछने पर पता चला कि उसका अपराध है “राजद्रोह” और सुरक्षा कानून के अंतर्गत उसे बंदी बनाया गया है।

वह जानती थीं कि यह सब चाल है। पर वह चुप रहीं। उसे अपने सत्य पर, अपनी ईमानदारी पर तथा अपनी देशभक्ति पर विश्वास था। झूठ भले ही रस्सियों से कस दे परंतु सत्य का गला नहीं घोंट सकता। हाँ, उसके उपासक का अवश्य, कभी-कभी उसकी रक्षा में गला काट या घोंट दिया जाता है।

रोलां से मार्ग में एक अधिकारी ने कहा—“आप वीर तथा साहसी महिला हैं। शांति और धैर्य से न्याय की प्रतीक्षा कीजिए।”

रोलां हँसी। पर कहा केवल इतना ही “न्याय ? यदि न्याय ही होता, तो मैं क्या इस अवस्था में होती?”

अधिकारी को चुप रह जाना पड़ा।

कारागार में रोलां को एक ऐसी अँधेरी कोठरी में डाल दिया गया, पता नहीं पड़ता था कि कब रात हो गई?

पर उसे न तो किसी अदालत में बुलाया गया। न कोई बयान लिया गया। न किसी प्रकार की सफाई पेश करने का अवसर दिया गया। आदमी आता और भोजन रखकर चला जाता। एक सिंहनी को कैद करके उसकी गतिविधियों को निष्क्रिय बनाने का प्रयास था यह।

एक बार तो ऊब उठी वह इस निष्क्रियता से, जड़ता से। कर्म तथा गति ही जिसके जीवन की परिभाषा रही हो उसे ऐसी स्थिति कैसे सहन होती।

एक बार जी में आया कि क्यों न इस जीवन का अंत ही कर डालूँ? और सचमुच ही एक दयालु जेल कर्मचारी की सहायता से जहर का प्याला मंगाकर हाथ में ले लिया। किंतु तभी उसे यह ध्यान आया कि यह तो कायरता होगी और प्याला गिर कर टूट गया। वह बुद्धिबल की ही नहीं आत्मबल की भी धनी थी।

तभी सुनाया गया उसे प्राण दंड! बिना अभियोग बताए, बिना मुकदमा चलाए, बिना पैरवी हुए ही प्राण दंड!

८ नवंबर १७९२। यही तिथि थी उसको फाँसी लगने की। वह शांत एवं स्थिर गति से आई। चेहरे पर अप्रतिम मुस्कान थी जैसे मृत्यु को गले लगाने में वह अपार प्रसन्नता अनुभव कर रही हो। फाँसी पर चढ़ने से पूर्व उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा और कानून! तुम्हारे नाम पर मनुष्यों ने कितने अपराध किए हैं।”

और इस अपराध की गुरुता को भी शायद अपराध करने वाले नहीं समझते थे।

नागरिक स्वतंत्रता प्राप्त कराने के लिए अपना संपूर्ण जीवन होम देने वाली नारी को “राजद्रोह” का एक पक्षीय आरोप लगाकर फाँसी दी गई थी।

इस घटना को पढ़कर महान विचारक, नाटककार मोरिस मेंटर लिंक की वे पंक्तियाँ याद हो आती हैं—“क्रांति की गति बड़ी मायाविनी होती है। मैंने क्रांति को अपने उपसंहार में अपने ही सृष्टि की बलि से तृप्त होते देखा है।”

तिहरे मोर्चों पर सफल-सन्नद्ध

मैडम च्यांग-काई-शेक

चीन की राजधानी और वहाँ स्थित विशाल राजप्रासाद। राजप्रासाद में निवास करते राष्ट्रपति च्यांग कोई शेक और उनकी धर्मपत्नी तथा परिवार। श्रीमती शेक को एक दिन न जाने क्या सूझा कि वे अपने पति से बोल उठीं—“हम इस देश के सेवक हैं या शासक?”

“जनता ने हमें सेवा का ही दायित्व सौंपा है।”—च्यांग काई शेक ने कहा—“शासन तो सेवा के रूप में ही किया जा रहा है श्रीमती जी।”

“ठीक है। अब मैं यह कहना चाहती हूँ कि सेवक को अपने स्वामी से अच्छे स्तर का जीवन व्यतीत करना चाहिए या उसके समकक्ष।”

“मैं तुम्हारा भाव समझता हूँ मेलिंग”—श्रीमती शेक का घरेलू नाम मेलिंग ही था और बचपन में सब लोग उन्हें इसी नाम से

पुकारते थे। च्यांग काई शेक ने स्पष्टीकरण देते हुए कहा—“परंतु ये सब सुविधाएँ अपने स्वामियों की ओर से ही दी गई हैं।”

“दी गई यह तो ठीक है। परंतु एक स्वामिभक्त सेवक मेरे ख्याल से तो मालिक की अपेक्षा अच्छे स्तर की सुविधाएँ लेने से इन्कार कर देगा।”

“हमारे देश में लाखों लोग फुटपाथों पर सोते हैं। उन्हें रहने के लिए एक साधारण कुटिया भी उपलब्ध नहीं है और हम इतने बड़े राजप्रासाद में रह रहे हैं जिसके कई कमरों को हम आज तक देख भी नहीं पाए।”—श्रीमती शेक कहे जा रही थीं और च्यांग काई शेक सुने जा रहे थे। उन्होंने जो कुछ भी कहा वह उनके (पति के) कानों से नीचे उतर कर सीधा हृदय तक जा पहुँचा और वहाँ के एक-एक तार को झंकृत कर गया।

उसी क्षण जनरल ने निश्चय किया कि वे देश के ओर देश की जनता के एक सेवक होने के नाते उसी स्तर का जीवन जिएँगे जिसमें सामान्य जनता जी रही है। शेक परिवार अपने निजी खर्चे पर चीन की राजधानी में एक छोटी सी कुटिया लेकर रहने लगा।

यह उस समय की घटना है जब चीन में लोकतंत्रात्मक गणराज्य था। सन् १९१२ में सहस्राब्दियों पूर्व से चले आ रहे राजतंत्र को समाप्त कर गणतंत्र की स्थापना की गई थी। इस क्रांति के सूत्रधार थे—डॉ० सनयात सेन और उनके उत्तराधिकारी बने च्यांग काई शेक दंपति। दोनों ही स्वभाव से प्रकृति प्रेमी थे और प्रकृति का स्वच्छंद सान्निध्य मिलता रहे इस उद्देश्य से उन्होंने सागर तट पर नानकिंग में अपना आवास बनवाया और वहीं रहने लगे। जब भी शासन व्यवस्था से समय बचता दोनों सागर तट पर जा बैठते। मनोरंजन के साथ-साथ लोक सेवा की चरचाएँ भी चलतीं।

च्यांग काई शेक के हृदय में प्रवाहित सेवा सरिता को गति दी उनकी धर्मपत्नी मैडम च्यांग काई शेक ने। आरंभ में ही कहा जा चुका है कि श्रीमती शेक के बचपन का घरेलू नाम था मेलिंग। चीनी भाषा के इस शब्द का अर्थ होता है—सुंदर जीवन। और इसी नाम को सार्थक करते हुए मैडम शेक ने जीवन में अपना जो सुरक्षित स्थान बनाया उससे आज भी वह पदच्युत नहीं हुई हैं। वे न केवल शरीर और व्यक्तित्व से ही सुंदर थीं वरन उनका हृदय और अंतर

भी अनुपम सुंदर था जिनके दर्शन करने वाला हर व्यक्ति उनका ही होकर रह जाता था।

व्यक्तित्व के बहिरंग और अंतरंग में अनुपम सौंदर्य का सृजन करने वाली इस देवी का जन्म सन् १८९९ ई० में संघाई नगर में हुआ था। उनका परिवार ईसाई मत का अनुयायी था और ईसा के प्रति सच्चे हृदय से आस्था होने के कारण पारिवारिक वातावरण में सेवा, प्रेम और करुणा की धाराएँ भी अनवरत बहा करतीं जिनके संस्पर्श ने बालिका मैलिंग को असाधारण रूप से प्रभावित किया। ज्यों-ज्यों वे बड़ी होती गईं यह संस्पर्श प्रभाव भी बढ़ने लगा और बचपन में वपन हुए बीजों के पुष्प-पल्लवों ने असंख्यों जीवनों को सुरभित-सुगंधित बनाया।

उनकी शिक्षा-दीक्षा अमेरिका में हुई। पढ़ाई में व्यस्त रहने के साथ-साथ उन्होंने वहाँ के सामाजिक जीवन और रचनात्मक कार्य प्रणाली में भी रुचि ली। खेल-कूद से लेकर विचार गोष्ठियों तथा शारीरिक प्रतियोगिताओं से लेकर बौद्धिक प्रतिस्पर्धाओं के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने उत्साह दर्शाया और परिणाम स्वरूप उनकी बहुमुखी प्रतिभा विकसित होने लगी। उन्नीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने अमेरिका के एक कॉलेज से बी० ए० पास किया और भविष्य की योजनाएँ बनाने लगीं। पिता अपनी बेटी को उच्च शिक्षा दिलाने का विचार करने लगे परंतु उन्हीं दिनों चीन में गृह युद्ध प्रारंभ हो गया।

मंचू विद्रोहों के कारण छः वर्ष पूर्व गठित लिबरल गवर्नमेंट का पतन हो गया और डॉक्टर सनयात सेन को भी जापान भाग जाना पड़ा। यद्यपि डॉ० सनायात के नेतृत्व में एक लोकप्रिय और जन कल्याणकारी शासन की स्थापना हो चुकी थी और सरकार चीनी समाज के नए कायाकल्प में संलग्न थी, परंतु विघ्न तोषी तत्त्वों ने ऐसे समय में अपना अस्तित्व बनाया और स्वभावानुसार स्वार्थी तत्त्वों को अवसर देने लगे। इन सब घटनाओं का पता मैलिंग को अमेरिका में लगा तो उन्होंने निश्चय किया कि राष्ट्रीयता और धर्म की दृष्टि से हम चाहे जो रहे हों, परंतु जिस देश का अन्न खाया है उसके प्रति, वहाँ की जनता के प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं, जिनकी किसी भी मूल्य पर उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। और वे अपनी शिक्षा का विचार अधर में छोड़कर चीनी जनता की सेवा के लिए स्वदेश आ गईं।

चीन में आकर उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलनों में हिस्सा लेना शुरू किया। अपनी कर्मठता, लगन और देश प्रेम के बल पर उन्होंने

शीघ्र ही क्रांतिकारियों और देशभक्तों के हृदय में स्थान बना लिया। उनके देश प्रेम के उफनते ज्वार से चीन के तत्कालीन अधिनायक जनरल च्यांग काई शेक उनसे बड़े प्रभावित हुए। जनरल शेक किसी ऐसे नारी व्यक्तित्व की प्रतीक्षा में ही थे जो उनके कठोर और संघर्षमय जीवन को स्निग्ध बना सके। मेलिंग से परिचय होने पर उन्होंने अनुभव किया कि उनकी प्रतीक्षा पूरी हो गई है और उन्होंने इस देशभक्त युवती से प्रणय का प्रस्ताव कर ही दिया।

मेलिंग ने शेक की प्रतीक्षा को पूरा किया और उनके उस स्वप्न को साकार किया जिसके संबंध में वे सोचा करते थे कि कभी पूरा होगा या नहीं। क्योंकि उस समय चीनी स्त्रियों की दशा बड़ी दयनीय थी, अधिकांश चीनी महिलाएँ घर में बंद कैदियों का सा जीवनयापन करती थीं। विकास, शिक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा के नाम पर उन्हें प्रतिबंध, कूप-मंडूकता और तिरस्कार ही मिला था। मेलिंग चीनी नारियों की इस दुर्दशा से अनभिज्ञ नहीं थीं और जब वे मेलिंग से मैडम च्यांग काई शेक बन गईं तो उन्होंने आरंभ किया—नव जीवन आंदोलन। इस आंदोलन का उद्देश्य था स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाना तथा राजनीति में व्याप्त अस्थिरता का निवारण। वस्तुतः नारियों की इस दुर्दशा के लिए चीन की समाज व्यवस्था ही दोषी थी और जब तक चीन के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन नहीं किया जाता, महिलाओं का उत्थान छूछा स्वप्न ही होता। सो मैडम शेक ने नव जीवन आंदोलन के माध्यम से चीन की जनता में नई सामाजिक चेतना का शंखनाद किया।

इसी आंदोलन के अंतर्गत शिक्षा और ज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु स्थान-स्थान पर उन्होंने स्कूल खुलवाए। स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्होंने बच्चों तथा उनके अभिभावकों की झिझक तुड़वायी। प्रबुद्ध व्यक्तियों और पढ़े-लिखे लोगों को उनका भान कराने के लिए अमूल्य साहित्य लिखा और उसे प्रकाशित कराया। इन सामाजिक गतिविधियों में प्रवृत्त रहने के साथ-साथ वे राजनीति की भी दक्ष खिलाड़ी थीं। अपने पति के साथ रहने से राजनीति का प्रशिक्षण उन्हें सहज ही मिल गया और इस प्रशिक्षण से अर्जित योग्यता का लाभ उन्होंने देश को तब दिया जब चीन और जापान में युद्ध छिड़ा। उस समय मैडम शेक को ही योग्यता के साथ-साथ सर्वाधिक विश्वनीयता के आधार पर वायु सेना मंत्रालय का दायित्व

सौंपा गया। अपनी प्रतिभा-शक्ति के बल पर इन दिनों उन्होंने वायु सेना को जितना सक्षम व समर्थ बनाया उसे देखकर दाँतों तले अंगुली ही दबानी पड़ेगी।

और इन सबसे भी गरिमामय था उनका व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन। सामाजिक कार्यकर्त्री और कुशल राजनेता होने के साथ-साथ वे एक सफल पत्नी भी थीं। जनरल शेक ने जिस आशा और जिस अपेक्षा के साथ उन्हें अपनी जीवन संगिनी बनाया उस आशा और अपेक्षा को पति के जीवन में प्रवेश करते ही वे पूरा कर दिखाने लगीं। आरंभ से ही उन्होंने वह स्नेह तथा वह वात्सल्य दिया जिसने च्यांग काई शेक को कठिन से कठिन संघर्षों में भी विजय का बल दिया। यही नहीं सन् १९३६ की कम्युनिस्ट क्रांति में जब जनरल शेक को साम्यवादी सेनाओं ने बंदी बना लिया तो मैडम शेक ने अपनी चातुरी से काम लेकर उनकी प्राण रक्षा की।

इस प्रकार श्रीमती शेक सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक तीनों मोर्चों के तिहरे दायित्व को कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी सफलतापूर्वक निभाती रहीं और यह प्रमाणित करती रहीं कि नारी अबला नहीं दुर्गा और काली के समान सबला भी है।

मैडम शेक ने आजीवन अपने पति की अर्धांगिनी बनी रहकर उनके तथा अपने विकास में जिस दृढ़ता के साथ, जिस निष्ठा के साथ योगदान दिया यह सर्वमान्य के लिए अनुकरणीय आदर्श है। उनके पति को विश्व भले ही एक असफल राजनेता के रूप में जानता हो पर व्यक्तित्व के साथ जुड़ी हुई महानताएँ तो कभी नहीं धुँधलाई जा सकती। काल के धुँएँ में भी वे और प्रखर तथा उज्ज्वल बनती चलती हैं।

नारी जागरण की प्रथम नेत्री

मादाम सनयात सेन

अमेरिका के वेसलियन विश्वविद्यालय से लौट रही एक चीनी कुमारी सूडचिंग-लिंग ने जहाज में देखा कि एक नवयुवक चीनी बड़ा घबराया सा चढ़ा और चुपचाप उसके पास आकर बैठ गया। जहाज रवाना हुआ तो उसने आसपास बैठे यात्रियों पर एक निगाह डाली और फिर इत्मीनान की साँस ली। अपने देश का

निवासी कोई व्यक्ति विदेश में मिल जाए तो ऐसा लगता है जैसे कोई अति आत्मीय परिजन मिल गया हो, भले ही उसे पहले कभी देखा न हो। सूड् को भी ऐसा ही अनुभव हुआ और वह परिचय बढ़ाने के लिए आतुर हो गई। उसने पूछ ही लिया—
“आप क्या चीन में रहते हैं?”

“नहीं! जापान”—युवक ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया। शरीर की बनावट और आकृति में चीनियों तथा जापानियों में कोई विशेष अंतर नहीं रहता। शायद मति भ्रम हो गया है—ऐसा विचार सूड् के मन में आया, परंतु बोलने का ढंग तो ठीक चीनियों जैसा था। शायद कोई कारण होगा जिसकी वजह से युवक कुछ खुल कर कहना नहीं चाहता था।

सूड् ने फिर पूछा—“आप कुछ घबराए से हैं। कोई परेशानी है क्या?”

“कोई परेशानी नहीं है देवी जी ! परंतु भगवान के लिए ज्यादा बात मत कीजिए”—युवक ने कहा।

पास ही बैठा एक व्यक्ति उन दोनों का यह संक्षिप्त वार्तालाप बड़े ध्यान से सुन रहा था। जापान के हवाई अड्डे पर वह युवक उतर गया और गौर से बातें सुन रहा वह व्यक्ति भी तेजी से उसी की ओर लपका। कुमारी सूड् भी उसी अड्डे पर उतर गई और चुपचाप यान में घटी घटनाओं पर विचार करती हुई गंतव्य स्थान की ओर चल दीं।

कई दिनों बाद फिर वह युवक दिखाई दिया और कुमारी चिंग ने उसे रोककर यान की घटनाएँ स्मरण करवाईं। उसने बताया कि वह चीन को विदेशी शासकों से मुक्त कराने के लिए इधर-उधर प्रयत्न करता फिर रहा है। यहाँ भी पुलिस के जासूस उसे पकड़ने के लिए चौबीसों घंटे पीछे रहते हैं। और उस दिन अधिक बात इसलिए नहीं की क्योंकि पास बैठा व्यक्ति गौर से देख-सुन रहा था।

“चीन की स्वतंत्रता.....” सुनकर कुमारी चिंग का हृदय हर्ष से भर गया। अमेरिका में रहकर वह कई बार सोचा करती थी कि काश! उसका देश आजाद हो सके। इसके लिए कोई प्रयत्न भी कर रहा है, यह तो उसे पता ही नहीं था। कुमारी चिंग ने भी अपनी भावनाएँ व्यक्त कीं और इस कार्य में स्वयं सहयोग देने की इच्छा प्रकट की। युवक ने अब अपना परिचय दिया—“मुझे सनायात सेन कहते हैं।”

डॉ० सनयात सेन उन दिनों चीनी स्वाधीनता आंदोलन के लिए प्रयत्न करते हुए देश-विदेशों में घूम रहे थे। कुमारी चिंग के रूप में उन्हें एक सहयोगी मिल गया। प्रथम परिचय पारस्परिक आदर, प्रेम और सहयोग में बदला। एक की ध्येय निष्ठा दूसरे की प्रेरणा बन गई। अंततः सन् १९१४ में उनका प्रेम आदर्श दांपत्य में बदल गया। कुछ ही वर्षों में इतने निकट आने और पति-पत्नी बन जाने का एकमात्र कारण था कि वे दोनों देश और समाज के लिए परस्पर मिल-जुलकर काम करें। यद्यपि एक लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए रिश्ते की आवश्यकता नहीं थी फिर भी दोनों को अपने जीवन साथी की जरूरत तो थी ही। और उन दोनों के लिए एक दूसरे से अधिक योग्य जीवन साथी और कौन हो सकता था।

चीन की राजनीति में मादाम सेन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि एक बहुत बड़े देश के राष्ट्रपिता की पत्नी होना मात्र ही अपने आप में प्रभाव और गौरव की बात है, परंतु मादाम सनयात सेन ने सिद्ध कर दिया कि वे महज सनयात सेन की पत्नी होने के कारण ही गौरवास्पद नहीं है, बल्कि उनमें स्वयं में भी देश भक्ति, जन सेवा और राजनीतिक चेतना पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। राजनीति में उनकी विद्यार्थी जीवन से ही रुचि रही। अपने देश की राजनीति में उन्होंने खुलकर भाग भी लिया।

कुमारी सूङ् (बाद में श्रीमती सनयात सेन) का जन्म क्यांगसू प्रांत के कुनशान नगर के संपन्न और प्रतिष्ठित परिवार में सन् १८९० में हुआ। अच्छी शिक्षा-दीक्षा के लिए उन्हें अमेरिका भेजा गया जहाँ उन्होंने विश्व की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का भी अध्ययन किया। पश्चिमी समाज के प्रगतिशील तथ्यों से परिचित होने पर उन्हें अपने देश में एक बहुत बड़ी कमी दिखाई दी। वह थी स्त्रियों की दुर्दशा। चीन में स्त्रियों की हालत अन्य एशियाई देशों की तरह ही खराब थी। उन्हें पुरुष के अत्याचार, अन्याय और शोषण का शिकार बनकर बेड़ियों से बंधे पाँवों में ही सारा जीवन काट देना पड़ता था।

अमेरिका में ही उन्होंने संकल्प लिया कि वे भविष्य में इसके लिए कार्य करेंगी। तथा उनका ध्यान अपने देश की राजनीतिक स्थिति की ओर गया। छोटे-छोटे राज्यों और रियासतों में बैठे हुए पराधीन चीन को अन्य देशों की तुलना में पिछड़ा, गरीब और भूखा पाकर उनकी आत्मा कराह उठी और वे बी० ए० की डिग्री लेकर ही वापस आ गईं।

रास्ते में उन्हें सनायात सेन मिले और जापान में ही वे उनकी सहयोगिनी तथा सहचरी बन गईं। दांपत्य जीवन के प्रारंभिक दिनों में उन्हें अपने पति का सान्निध्य बहुत कम, लगभग नहीं के बराबर मिला। परंतु उन्होंने संतोष किया। क्योंकि विवाह का उद्देश्य शरीर सुख, ऐश्वर्य-विलास और साधन-सुविधाएँ जुटाकर गृहस्थी बसाना मात्र ही नहीं है। उससे भी ऊँचा और महान एक उद्देश्य है जो लक्ष्य की समानता और उसकी प्राप्ति के लिए समन्वित प्रयास के संकल्प से जन्म लेता है। मादाम सूड् अपने पति के निर्देशों पर इधर से उधर भटकती रहीं। चीन की स्वतंत्रता के समर्थक देशों से शस्त्रास्त्र और सहायता प्राप्त कर चीन में सहयोगी उद्देश्य से कार्य कर रहे भाइयों तक पहुँचाने के लिए सतत उद्योग किया।

स्वातंत्र्योत्तर चीन में वे एक मात्र क्रांतिकारिणी महिला के रूप में देश के राजनीतिक क्षेत्र में उभर कर आईं। महिला क्रांतिकारी होने के कारण उनका नाम देश के कोने-कोने में फैल गया। परंतु उन्होंने अब दूसरे कार्य की ओर ध्यान दिया और वह था नारी जागरण। स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने आंदोलन चलाए और जनमत जागृत किया।

अपनी इन गतिविधियों के कारण वे नारी जागरण के क्षेत्र में चीन ही नहीं एशिया की सर्वाधिक प्रशंसित और चर्चित महिला बन गईं। उनके देश में हर कोई राजनीतिक दल उनके नाम का सहारा प्राप्त करना चाहता था और उनकी प्रतिष्ठा को अपनी सफलता का आधार बनाना चाहता था।

डॉ० सनयात सेन का देहांत हो जाने के बाद वे कुआमितांग की केन्द्रीय सरकार की मंत्री बनीं। इस पद पर रहकर उन्होंने सर्वाधिक ध्यान अपने मूल कार्य-नारी आंदोलन की ओर ही दिया। कुछ प्रश्नों पर मतभेद हो जाने के कारण वे कालांतर में मंत्रिमंडल से अलग हो गईं और स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करने लगीं। सरकार छोड़कर समाज-कल्याण और सहकारिता के क्षेत्र में उन्होंने अवर्णनीय सेवाएँ कीं। दोनों ही स्थितियों में जब वे सरकार में थीं और सरकार से अलग हुईं वे समान रूप से प्रसन्न रहीं। जैसे उनके लिए कोई खास अंतर आया ही नहीं था। सेवा परायण लोगों को अपनी कुर्सी से नहीं सेवा-साधना से लगाव रहता है। वे चाहे जब अपनी इस साधना में रुकावट पैदा करने

वाले बड़े-बड़े पद और अधिकार व्यर्थ की चीजों की तरह त्याग देते हैं।

परंतु जब ऐसा अवसर आता है कि समाज को उनकी सेवाओंकी आवश्यकता है और उन लोगों के साथ रहकर भी कार्य करना पड़े जिनसे मतभेद हों तो सेवानिष्ठ व्यक्ति अपने मतभेद भुलाकर आगे आते हैं। जापान युद्ध से चीनी गृहयुद्ध तक उनके देश में ऐसी ही घड़ी आई जब उनके अतिरिक्त प्रशासन के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों को कोई और पूरा नहीं कर सकता था तो वे १९३९ से ४५ तक पुनः मंत्री बनीं और इस संकट से उबरने तक मतभेद रखने वाले अन्य व्यक्तियों के साथ काम करती रहीं। १९४१ में उनकी निःस्वार्थ सेवाओं के उपहार में मादाम सनयात सेन को राष्ट्र का उपाध्याक्ष निर्वाचित किया गया।

ममता की मूर्ति मारिया मांतेस्सरी

रोम के एक कुलीन परिवार में सन् १८८६ में जन्मी एक नन्हीं सी बालिका जब छः वर्ष की थी, तब प्रारंभिक कक्षा की वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकी उसे अपने पाठ याद ही नहीं होते थे। उसके माता-पिता और शिक्षक उसकी ओर से बहुत निराश होते जा रहे थे। परंतु कौन जानता था कि उसके जीवन में एक बहुत बड़ा मोड़ आएगा और उसे जीवन के ध्येय की प्रतीति छुटपन में ही हो जाएगी।

वह नन्हीं-सी बालिका थी मारिया मांतेस्सरी, एक ऐसा नाम जिसे संसार का हर पढ़ा-लिखा व्यक्ति जानता है, एक ऐसा व्यक्तित्व जिसका स्मरण करते ही ममत्व जाग उठता है और जिसके प्रति संसार के प्रत्येक बालक का मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।

एक दिन मारिया को ज्वर हो गया। ज्वर बढ़ता गया और उसने इन्फ्लुएन्जा का भीषण रूप ले लिया। डॉक्टर बुलाया गया और जब मारिया की माँ ने डॉक्टर से अपनी बच्ची का हाल पूछा तो डॉक्टर ने सिर हिलाकर कहा—“बुरी से बुरी परिस्थिति के लिए तैयार हो जाओ।” माँ की आँखें सजल हो गईं, बेटी ने यह देख लिया और बात को ताड़कर बोली—“माँ, तुम बिलकुल चिंता मत करो। मैं

मरूंगी नहीं। मुझे तो अंभी संसार में बहुत-सा काम करना है।” और सचमुच दृढ़ इच्छा शक्ति के बल से मारिया का ज्वर छूट गया। वे स्वस्थ हो गईं। इतना ही नहीं, उनकी बुद्धि के कपाट भी खुल गए और इस बार मारिया ने अपनी कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। माता-पिता ने सुझाया कि वह अध्यापिका बने। १८ वीं सदी का वह जमाना इससे अधिक कुछ कल्पना ही नहीं कर सकता था कि स्त्रियाँ पढ़-लिख कर अध्यापिकाएँ बन जाएँ, परंतु मारिया के मन में कुछ और था। उन्होंने निश्चय किया कि वे इंजीनियर बनेंगी और १४ वर्ष की अवस्था में वे लड़कों के तकनीकी स्कूल में भरती हो गईं। परंतु अकेली मारिया ही तो अपने भविष्य का निर्णय नहीं कर सकती थीं। नियति उनके मार्ग में आकर खड़ी हो गई और अगले वर्ष उन्होंने गणित छोड़ कर जीव-विज्ञान का अध्ययन आरंभ कर दिया।

मारिया रोम विश्वविद्यालय के मेडीकल कॉलेज में भरती होने के लिए गईं। स्कूल के डीन प्रोफेसर गाइडो बेसिली उन्हें देखकर केवल इतना ही बोले—“असंभव।” किंतु मारिया अपनी हठ पर अड़ी रहीं और अंततः उन्हें स्कूल में प्रवेश मिल गया। बात का अंत यहीं नहीं हुआ, उन्होंने योग्यता के आधार पर छात्रवृत्ति प्राप्त की और अपनी शिक्षा का भार स्वयं उठाया। लड़कों के स्कूल में अकेली लड़की हमेशा अपने सहपाठियों के व्यंग्यों का शिकार रहती थी। पर अंततः जीत मारिया की हुई, वे इटली की प्रथम महिला डॉक्टर बनीं और उन्हें रोम विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक उपचार-गृह में प्राध्यापिका का पद प्रदान किया गया। अब इस प्रसंग में उनका संपर्क पागलखानों के साथ हुआ। वहाँ उन्होंने देखा कि कुछ अविकसित और ऊधमी बच्चे भी पागलखाने में रखे जाते हैं। उन्होंने प्रयत्न करके डॉ० बेसिली को इस बात के लिए राजी कर लिया कि उन्हें अविकसित बच्चों के सुधार के लिए एक प्रायोगिक विद्यालय चलाने की अनुमति दी जाए। उनके प्रयास से ये बच्चे बहुत शीघ्र सुधर गए और उनमें से अनेक सामान्य बालक की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और परिश्रमी सिद्ध हुए।

उन्होंने देखा कि इटली के स्कूलों में सबसे अधिक बल इस बात पर दिया जाता है कि बच्चे अधिक से अधिक शांत बैठे रहें और अपने शिक्षकों का उपदेश सुनते रहें। उन्होंने खुले आम इस

विचार की आलोचना करनी आरंभ कर दी। उन्होंने कहा कि बालकों में जन्मजात प्रतिभा एवं शक्ति होती है, उन्हें सक्रिय जीवन व्यतीत करने की अनुमति दी जानी चाहिए। चुपचाप बैठे रहने से उनका विकास नहीं हो सकता। शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों के प्रत्येक कार्य का बारीकी से अध्ययन करें और बालकों को समझाने का प्रयत्न करें। वे यह देखें कि बालक का विकास किस रीति से हो रहा है और बालक की भीतरी शक्ति का प्रवाह किस ओर है।

अविकसित बालकों पर सफल प्रयोग करने के पश्चात् मारिया मांतेस्सरी रोम विश्वविद्यालय में नृत्य-शास्त्र की प्राध्यापिका बनीं और ७ वर्ष तक उन्होंने इसी पद पर काम किया। अब वह समय आ पहुँचा, जब नियति द्वारा निर्धारित कार्य करने का उन्हें सुअवसर प्राप्त हुआ।

रोम की लारेंजो नामक कुख्यात गंदी बस्ती ने उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इस गंदी बस्ती का हाल ही में पुनरुद्धार हुआ था। कच्चे झोंपड़े गिरा कर पक्के मकान बना दिए गए थे, पर दिन में माँ-बाप काम पर चले जाते और बच्चे स्कूल में पढ़ने के लिए पीछे रह जाते। नन्हें-मुन्ने दिन भर इधर-उधर धूल में खेलते और गंदी गालियाँ सीखते। मारिया ने जब यह देखा तो उनमें एक नई चेतना जाग उठी। मारिया ने लारेंजों में अपना बाल-मंदिर आरंभ कर दिया और साठ शर्मीले, गंदे और कमजोर बच्चों के सहारे उन्होंने उस प्रसिद्ध मांतेस्सरी शिक्षा प्रणाली का आविष्कार किया, जिसकी आज संसार में सर्वत्र प्रशंसा की जाती है।

मारिया मांतेस्सरी लिखाई-पढ़ाई को प्रारंभिक शिक्षा का उतना महत्वपूर्ण अंग नहीं मानती थीं, जितना कि संस्कार को। वे सदा यही कहा करतीं कि जब बच्चे छोटे हों, तब उन्हें सुसंस्कृत बनाया जाए और फिर उन्हें यह स्वतंत्रता दी जाए कि वे अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्ति का चुनाव करें। उनकी मान्यता थी कि बच्चे की सबसे बड़ी आवश्यकता सुसंस्कार अर्थात् सभ्यता है। हमें उसको सभ्य बनाना चाहिए, उसके भीतर आत्म-निर्भरता और अनुशासन की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। वे इस बात पर इतना बल देती थीं कि प्रसिद्ध मानस-चिकित्सा-शास्त्री सिगमंड फ्रायड ने एक बार उनकी प्रशंसा करते हुए यहां तक कह डाला था कि यदि संसार के सभी बच्चे मांतेस्सरी

प्रणाली से दीक्षित किए जाएँ तो मनोविश्लेषण विद्या की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

वे धैर्य को शिक्षक की कसौटी मानती थीं। उनका विचार था कि बच्चे को सिखाने से पहले शिक्षक को स्वयं यह सीखना चाहिए कि बच्चे सीखना क्या चाहते हैं और उन्हें कैसे सिखाया जा सकता है। उनके विचार से शिक्षकों का काम केवल यह है कि बच्चों की ग्रहण-शक्ति को मुक्त कर दें, उसे उत्तेजित कर दें और बाद में उसे अनुकूल समुचित दिशा प्रदान करें।

मारिया ने लिखा है कि उन्हें सबसे अधिक प्रसन्नता यह जानकर हुई कि बच्चे दंड के भय अथवा पुरस्कार के लोभ से प्रेरित नहीं होते। वे केवल उस आत्म-संतोष से संचालित होते हैं, जो उन्हें कार्य के फलस्वरूप मिलता है। जिस घड़ी वे जान पाते हैं कि उन्होंने कोई अच्छा या उपयोगी काम किया है उसी घड़ी उनकी कार्यशक्ति के अवरुद्ध द्वार खुल जाते हैं।

१९१२ में मारिया की पहली पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका नाम था—‘मांतेस्सरी शिक्षा पद्धति’। पुस्तक प्रकाशित होते ही संसार के प्रायः सभी देशों ने उनकी शिक्षा-पद्धति अपना ली। परंतु दुर्भाग्य ऐसा कि उनके अपने ही देश इटली का तानाशाह मुसोलिनी उनके विरुद्ध हा गया और मारिया को इटली छोड़कर मासीलोना जाना पड़ा। मासीलोना जाते समय मारिया की आयु ६४ वर्ष की थी। दुर्भाग्य से वहाँ स्पेन का गृह-युद्ध छिड़ जाने के कारण अशांति फैल गई तथा कुछ ही दिनों बाद विद्रोही सैनिक कैथोलिक संप्रदाय के ईसाइयों और इतालवियों को सताने लगे। एक दिन एक सैनिक दस्ता मारिया के द्वार पर आकर खड़ा हो गया। मारिया ने जब यह देखा तो उन्होंने घर के बच्चों को इकट्ठा किया और उनसे कहा कि हम सबको एक दिन मर जाना है। किसी को आगे, किसी को पीछे। आओ, हम सब प्रार्थना करें कि हम जहाँ भी जाएँ, ईश्वर हमारा मार्ग-दर्शन करें। उन्होंने बच्चों में आत्म-विश्वास भर दिया। सिखाने की यह अनुपम रीति थी। द्वार पर सैनिक दस्ते का कमांडर यह सब सुन रहा था। उसने दरवाजे पर लाल रंग से लिखा—“इस मकान का सम्मान करो। यह बच्चों की एक महान माता का पवित्र मकान है।” और वह वहाँ से चला गया।

अपने अंतिम दिनों में उनके मन में अफ्रीका के बच्चों की चिंता उमड़ आई थी। परंतु वे अपनी इस इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकीं और ८७ वर्ष की आयु में इस संसार में अपना नाम अमर कर विदा हो गई।

अमेरिका की महान समाज सेविका

श्रीमती रूजवेल्ट

विश्व की महान महिलाओं में श्रीमती रूजवेल्ट का उल्लेखनीय स्थान है। उनके द्वारा संपादित मानव-समाज की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। यद्यपि वे अमेरिका की पुत्री थीं, किंतु उनका सेवा कार्य सारे संसार के लिए समान रूप से होता रहा। जाति भेद, रंग भेद और भूमि भेद उनकी महान मानवता के परे की बात थी। अपनी इस भावना की पुष्टि करते हुए वे जब-तब कहा करती थीं—“मेरे लिए मानवता के नाते जो महत्त्व और ममत्व कुलीन अमेरिकनों के लिए है वही नीग्रो जाति के लिए भी है। मेरे इस स्वभाव की बहुत बार आलोचना की जाती है लेकिन मैं रंग भेद के कारण मनुष्य-मनुष्य में भेद कर सकने में अपने आपको सदैव असमर्थ पाती हूँ। सारे मनुष्य एक शिल्पी परमात्मा के पुत्र हैं, सबकी आत्मा एक है, तब भला आकार-प्रकार के अमहत्त्वपूर्ण अंतर के आधार पर मैं सर्वव्यापक एकात्मा की भिन्नता का समर्थन किस साहस और विवेक बल पर कर सकती हूँ।”

इन महान विचारों की महिला श्रीमती रूजवेल्ट ने जब अमेरिका की नीग्रो जाति के अधिकारों के लिए प्रयत्न प्रारंभ किया और ‘यदि आवश्यकता हुई तो संघर्ष से भी पीछे नहीं हटूँगी’—इस घोषणा के साथ अपना कदम आगे बढ़ाया तो कुलाभिमान से दूषित अमेरिकनों ने उनके विरुद्ध आवाज उठाई और उन्हें इस कार्य से विरत करने की कोशिश की। किंतु संकल्पशीला श्रीमती रूजवेल्ट अपने ध्येय पर चट्टान की तरह दृढ़ अडिग बनी रहीं। अमेरिका की प्रतिगामिनी तथा प्रतिक्रियावादिनी पत्र-पत्रिकाओं ने जी भर कर उनके विरुद्ध लिखा और समाचार पत्रों ने निरुत्साह करने वाले समाचारों की झड़ी लगा दी, परंतु उन्होंने इसकी परवाह नहीं की।

श्रीमती रूजवेल्ट को उनके अनेक मित्रों एवं हितचिंतकों ने समझाया कि वे नीग्रो लोगों की हिमायत छोड़ दें। इससे लोक-मत बिगड़ता है, जिसका कुप्रभाव आपके पति प्रेसीडेंट रूजवेल्ट की लोकप्रियता पर पड़ सकता है। किंतु श्रीमती रूजवेल्ट ने उनके इस भय को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया और स्पष्ट कह दिया—“इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरे पति मि० फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट अमेरिका के प्रेसीडेंट जरूर हैं, उनका मुझ पर अधिकार भी है, किंतु फिर भी अपने-अपने कर्तव्य तथा सेवा के क्षेत्र में मैं दोनों को एक-दूसरे से स्वतंत्र मानती हूँ। मेरी लोक सेवा मेरे पति के पद के अनुकूल नहीं है, इस भय से मैं अपना परमार्थ पथ छोड़ दूँ, यह मुझ से नहीं हो सकता। वह अपने क्षेत्र में जो कर्तव्य हों उन्हें करें और मैं अपने सेवा क्षेत्र में काम करती हूँ। गृहस्थी के रूप में मैं उनकी आज्ञाकारिणी पत्नी हूँ, किंतु मानवता के नाते जनसेवा के क्षेत्र में अपने को स्वतंत्र मानने के अधिकार को सुरक्षित रखना चाहूँगी।”

ऐसे स्वतंत्र एवं अटल विचारों वाली यह महिला अपने दांपत्य जीवन में कितनी बड़ी पति सेविका थीं। इसका आभास इसी बात से मिल सकता है कि १९२१ में जब उनके पति श्री रूजवेल्ट पोलियो माइलाटिस के कारण अपाहिज हो गए तब उन्होंने उनके दूसरे शरीर के समान सहयोग किया। श्रीमती रूजवेल्ट पति की आँख, कान और हाथ-पैर बन गईं। वे नित्य नियम से उन्हें अखबार सुनातीं, आवश्यक डाक तथा पुस्तकों का वाचन करतीं। जब द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हुआ तब उनके पति अमेरिका के प्रेसीडेंट थे। उनके कंधों पर भारी जिम्मेदारी थी, काम की बहुतायात थी, किंतु शरीर पूरी तरह स्वस्थ न हो सका था। ऐसे अवसर पर उनकी पत्नी के रूप में उन्होंने न तो उनको चिंतित होने दिया और न काम का कोई हर्ज होने दिया। उन्होंने अपनी कार्यक्षमता, तत्परता तथा परिश्रम के आधार पर अपने आपको योग्य पति की योग्य पत्नी सिद्ध कर दिखाया।

श्रीमती रूजवेल्ट, जिनका पूरा नाम ऐलीनेर रूजवेल्ट था, लड़ाई के मोर्चों का दौरा करतीं, सैनिकों तथा सेना-नायकों से मिलतीं। उनकी कठिनाइयों, आवश्यकताओं तथा असुविधाओं के विषय में विवरण एकत्रित करतीं और लौटकर सैनिकों तथा मोर्चों

की सारी समस्याओं को अपने पति के सम्मुख रखतीं और उनको हल करने में अपनी सीमा भर सहायता करतीं। इस कार्य के लिए उन्होंने लड़ाई के लगभग सभी मोर्चों का दौरा किया। उनके इस साहस तथा परिश्रम का अमेरिका में ऊँचा मूल्य आँका गया और तात्कालिक पत्रों ने उनकी खूब प्रशंसा की।

श्रीमती रूजवेल्ट ने पति के कृते न जाने कितनी प्रेस-कांफ्रेंसें बुलाई और उनमें पत्रकारों को आवश्यक निर्देश, परामर्श तथा विज्ञप्तियाँ दीं और युद्ध कालीन समाचार पत्रों की रीति-नीति निर्धारित की। श्रीमती रूजवेल्ट पहली अमेरिकन महिला थीं जिन्होंने पत्रकार सम्मेलनों का आह्वान किया, उनकी अध्यक्षता की और रीति-नीति में आवश्यक अभिमत दिया। अपने इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए पत्रों में उनके लिए हजारों साधुवाद तथा श्रद्धावाद छपे।

क्यों न हो, वे उस समय के किसी भी राजनेता से कम योग्यता नहीं रखती थीं।

श्रीमती रूजवेल्ट का जन्म ११ अक्टूबर १८८४ को न्यूयार्क में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा घर पर समाप्त करने के बाद उन्होंने अमेरिका तथा फ्रांस, इटली, इंग्लैंड आदि देशों के कालिजों तथा विश्वविद्यालयों में अनेक भाषाओं तथा राजनीति के साथ अनेक विषयों में उच्चतम शिक्षा प्राप्त की थी। यथेष्ट योग्यता अर्जन कर उन्होंने १९०५ में अपने योग्य पति श्री फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट से विवाह किया। विवाह करने के बाद उन्होंने अपने पति के साथ रहकर देश-विदेश की सक्रिय एवं व्यवहारिक राजनीति का ज्ञान प्राप्त किया, जिसका प्रमाण उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के समय अनेक प्रकार से पति का प्रतिनिधित्व करके दिया। इस प्रकार उन्होंने पति के साथ एक रूप होकर उनकी तथा देश की उल्लेखनीय सेवा की। इसके लिए उन्होंने उस समय की सर्वश्रेष्ठ महिला की प्रतिष्ठा प्राप्त की।

अपनी इस परिश्रमपूर्ण योग्यता के कारण वे अमेरिका की इतनी प्रामाणिक महिला मानी गई कि जिस संयुक्त राष्ट्र संघीय वृहत सभा का पहला अधिवेशन हुआ उस समय उनको उसमें अमेरिकी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्र का प्रतिनिधि बना कर भेजा गया। उस अधिवेशन में श्रीमती रूजवेल्ट ने मानव अधिकारों, सामाजिक तथा राजनीतिक न्याय और विश्व-बंधुत्व के पक्ष की

इस प्रभावशाली ढंग से वकालत की कि संसार के सारे प्रतिनिधियों को उनकी प्रशंसा करते ही बना।

अपने देश की वास्तविक दशा जानने के लिए श्रीमती रूजवेल्ट ने अपने देश के लगभग सभी भागों का अनेक बार दौरा किया और पाया कि यद्यपि अमेरिका एक संपन्न तथा प्रतिभाशाली देश है तथापि जनता का एक बड़ा भाग अब भी गरीबी और अभाव के दिन काट रहा है। उसमें भी मजदूर वर्ग की दशा और भी खराब है। इस तथ्य का दर्शन कर वे तुरंत अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर हो गईं। उन्होंने इसका कोई संकोच किए बिना कि उनके पति अमेरिका के राष्ट्रपति तथा सरकार के सर्वोच्च अधिकारी हैं अपना पक्ष जोरदार शब्दों में रखना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने जनता के लिए भोजन, वस्त्र तथा आवास की माँग की और सभाओं, भाषणों तथा लेखनी द्वारा सरकार पर इतना प्रभाव डाला कि उसे अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों की तरह इस ओर भी ध्यान देने के लिए विवश होना पड़ा। श्रीमती रूजवेल्ट के इन साधु प्रयत्नों से अमेरिका की गरीब जनता का बड़ा हित साधन हुआ।

श्रीमती रूजवेल्ट स्वयं परिश्रम का मूल्य-महत्त्व जानती थीं इसलिए अमेरिका का मजदूर वर्ग उनकी सहानुभूति से वंचित न रह सका। श्रीमती रूजवेल्ट न केवल मजदूरों की सभाएँ संगठित करके अपने अनेक ओजस्वी भाषणों द्वारा उनके अधिकारों तथा आवश्यकताओं के प्रति जन चेतना जागृत करती थीं अपितु मजदूरों के घर-घर जाकर उनकी दशा देखती, उनको सभ्यतापूर्वक रहने का ढंग बतलाती, सफाई रखने की प्रेरणा देती, उनकी कठिनाइयाँ सुनती तथा उनके समाधान का उपाय बतलाती थीं। उनके बच्चों को पढ़ाने तथा स्त्रियों को सुगृहणी की शिक्षा देने में तो उन्हें विशेष रुचि थी। अपने नित्य के दौरों में वे अपने साथ दवाइयों का बक्स रखती थीं और गाँव-बस्तियों के बीमार बच्चों, स्त्रियों तथा पुरुषों को दवाइयाँ बाँटती चलती थीं। अपने इस सेवा कार्य में उन्होंने सैकड़ों मील की पैदल यात्रा की होगी।

शहरी मजदूरों के साथ उन्होंने गाँव के किसान मजदूरों की कम सेवा नहीं की। ग्राम सुधार उनकी सेवा योजना का एक विशेष अंग था। वे कई-कई दिन के लिए गाँवों में निकल जातीं। सफाई की व्यवस्था करती, किसानों को अच्छे बीज और अच्छी खाद प्रयोग

करने की प्रेरणा देतीं। किसानों को जमा करके सहकारी खेती तथा कृषि संबंधी साहित्य सुनातीं, समझातीं और बाँटती थीं। उन्होंने गाँवों में शिक्षा का भी प्रसार किया और अनेक स्थानों पर पुस्तकालय तथा वाचनालय भी खुलवाए।

अपने नित्य के दौरे का ब्यौरा वे रोज ही अखबारों में दिया करती थीं। इसके लिए उन्होंने 'माई डे' (मेरा दिन) नामक पत्रों में एक स्थाई स्तंभ ही खोल दिया था। इस स्तंभ में नित्य लिख कर वे देशवासियों को किसान-मजदूरों की दशा, उनकी आवश्यकता तथा समस्याओं पर प्रकाश डालकर अवगत कराती थीं। उनके नित्य-प्रति के स्तंभ ने उनको इतनी लोक-प्रियता दिलाई कि सरकार को उनके लेखों पर ध्यान देने के लिए विवश होना पड़ा।

सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य उनके प्रचार के मुख्य विषय थे। उनका मत था कि राष्ट्र कितना ही शक्तिशाली एवं समृद्ध क्यों न हो, यदि उसमें शिक्षा तथा स्वास्थ्य का अभाव हो जाएगा तो उसे गिरते देर न लगेगी। इसलिए राष्ट्र तथा व्यक्ति दोनों के हित के लिए जन-जन को शिक्षित तथा स्वस्थ होना चाहिए। शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में समाज को बढ़ाने के लिए श्रीमती रूजवेल्ट जितना जो कुछ कर सकती थीं, उन्होंने करने में कसर उठा न रक्खी। उन्होंने बाल-मंदिर से लेकर स्त्री-पुरुषों की न जाने कितनी दिन व रात की पाठशालाएँ खुलवाईं। चलती हुई पाठशालाओं को सहायता तथा परामर्श देकर विकसित कराया। इसी प्रकार उन्होंने जनता के सार्वजनिक औषधालय तथा चिकित्सालय खोलने की प्रेरणा दी और सरकार पर वर्तमान अस्पतालों की क्षमता तथा योग्यता में विकास करने के लिए दबाव डाला। इसके अतिरिक्त संसार में विश्व-बंधुत्व की भावना स्थापित करने के लिए उन्होंने लगभग सभी प्रमुख देशों की यात्रा की, जिसके लिए उन देशों ने उन्हें विविध उपाधियाँ देकर सम्मानित किया।

जहाँ श्रीमती रूजवेल्ट गरीबों की सहायता करने के लिए जनता से आवेदन करती थीं, वहाँ स्वयं भी उनके लिए धन-संग्रह करने के लिए उन्होंने टेलीविजन पर व्यापारियों को विज्ञापन में अपने नाम का उपयोग करने की स्वतंत्रता दे दी। उनके इस कार्य की बड़ी आलोचना की गई और यहाँ तक कहा गया कि श्रीमती

रूजवेल्ट ने अपना नाम बेचकर अपनी तथा अपने पति की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल काम किया है। उन्होंने अपनी आलोचना सुनी और केवल यह छोटा-सा उत्तर देकर सबका मुँह बंद कर दिया—“मैं सेवा कार्यों में पद अथवा प्रतिष्ठा को महत्त्व नहीं देती। मेरी समझ में जनता का सेवक होना किसी भी राजनीतिक प्रतिष्ठा से बढ़कर सम्मानपूर्ण पद है। जहाँ तक नाम बेचने का प्रश्न है। मेरा इसमें कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है। यह सब मैंने गरीबों की सहायता के लिए किया है और यदि उनकी सहायता के लिए आवश्यकता पड़े तो मैं नाम तो क्या अपने प्राण और अपना जीवन तक बेच सकती हूँ।”

इस प्रकार वह महान पति की महान पत्नी श्रीमती ऐलीनोर रूजवेल्ट जीवन भर जनता की सेवा और उसका हित करते हुए ७ नवंबर १९६५ में संतोषपूर्वक स्वर्ग चली गई। सारे साधन तथा सारे सुख होते हुए भी जो लोकहित में अपने जीवन का उपयोग करती और कष्ट उठाती हैं, ऐसी श्रीमती रूजवेल्ट जैसी महान महिलाएँ निःसंदेह विश्व भूमि की देवियाँ ही होती हैं और युग-युग तक संसार की श्रद्धा पात्री बनी रहती हैं।

निःस्वार्थ एवं कर्मठ सेविका

इजाबेला थोर्बन

विदेशों में जन्म लेकर भारत की तन, मन धन से सेवा करने वाली महिलाओं में इजाबेला थोर्बन का प्रमुख स्थान है। यद्यपि इनका शरीर अमेरिका का था पर आत्मा भारतीय थी। प्रारंभिक जीवन से ही थोर्बन ने भारत को ही अपना घर समझा था। ईश्वर को सबका पिता, सारे संसार को उसका घर मान लेने से भेदभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण से उन्हें मानव मात्र की सेवा में परिवार की सेवा का आनंद अनुभव होता था। भारत को अपना घर तथा भारतीयों को अपने परिवार का सदस्य मानने वाली थोर्बन आज नहीं हैं, पर लखनऊ, कानपुर और नैनीताल की अनेक शिक्षण संस्थाएँ उनकी स्मृति दिला रही हैं।

इजाबेला थोर्बन का जन्म अमेरिका में आकर बसे एक आयरिश परिवार में २९ मार्च, १८४० को ओहियो में हुआ था।

उन्हें बचपन से ही प्रकृति के सान्निध्य में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। वे बचपन से ही भावुक तथा कल्पना लोक में विचरण करने वाली बालिका थीं। अपने दस भाई-बहनों के बीच इनका तीसरा स्थान था। किशोरावस्था में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण वह और अधिक भावुक तथा अस्थिर हो गई। माता समझदार थीं अतः उन्होंने प्रेम के साथ-साथ संतुलित विकास की और ध्यान देते हुए उच्च आदर्शों की शिक्षा देना प्रारंभ कर दिया। माता अपनी पुत्री को समझाकर यही कहती—“झूठे आरोप कभी भी दूसरे पर न लगाने चाहिए और न स्वयं पर लगाकर अपराधी वृत्ति को प्रश्रय देना चाहिए। कभी यह भी हो सकता है कि इच्छानुसार परिणाम न निकले, फिर भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक बात का निर्णय लेने से पूर्व अच्छी प्रकार सोचना और समझना चाहिए। बिना तर्क की कसौटी पर कसे जल्दबाजी में किए गए कार्यों से कोई लाभ नहीं होता। लालच और दबाव के आगे कभी न झुको।”

भावुक, कल्पनालोक में विचरण करने वाली तथा खामोश बालिका पर माँ की शिक्षाओं का ऐसा प्रभाव पड़ा कि यथार्थ और आदर्श पर सेतु निर्माण कर शिक्षा-शास्त्री के रूप में समाज के सम्मुख सेवा करने आई। इनकी शिक्षा विद्यालय और पुस्तकों से संबंध रखने वाली कम, पर जीवन से संबद्ध अधिक थी। कॉलेज की शिक्षा के साथ माँ की शिक्षा को ग्रहण कर थोर्बन ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। २० वर्ष की आयु में कॉलेज की शिक्षा समाप्त कर अध्यापन, लेखन, समाज-सेवा और चित्रकारी की ओर ध्यान देना शुरू कर दिया। उस समय थोर्बन का बड़ा भाई भारत में रहकर मिशनरी सेवा कर रहा था। भाई-बहन के बीच पत्रों का आदान-प्रदान होता रहता था। भाई अपने पत्रों में कभी भारत के रसीले और मीठे आमों का वर्णन करता, कभी विभिन्न ऐतिहासिक तथा रमणीक स्थलों की प्रशंसा करता, एक बार तो भारतीय दरिद्रता का चित्रण करते हुए अपनी बहन के मन में दरिद्र नारायण की सेवा करने की ललक पैदा कर दी थी। बहन ने पत्रों के माध्यम से ही काफी जानकारी प्राप्त कर ली थी। ज्यों-ज्यों भारत के प्रति उनका आकर्षण बढ़ता गया उनके अंदर बैठी समाज-सेविका का ध्यान भारत की ओर खिंचने लगा। वह ऐसे

समय की प्रतीक्षा करने लगीं जब उसे भारत जाने का सुअवसर मिले और वहाँ पर दीन-हीन व्यक्तियों की सेवा में लगकर अपने को धन्य मान सके।

सन् १८६६ में थोर्बन के भाई ने भारत में ही एक कन्या विद्यालय स्थापित करने की योजना बनाई तो उसने अपनी बहन को पत्र द्वारा सूचना दी कि यदि वह विद्यालय का कार्य भार ग्रहण कर सके तो अच्छा है। अगले पत्र में और अधिक स्थिति स्पष्ट करते हुए लिखा—“अभी सोचने के लिए पर्याप्त समय है। यह ध्यान रहे कि देश त्यागना पड़ेगा। परिवार के प्रेम से वंचित होना पड़ेगा। जीवन की सुख-सुविधाएँ जो आज तुम्हें प्राप्त हैं यहाँ आकर शायद न मिल सकें। यहाँ तो अशिक्षित और निर्धन परिवारों से ही अपना संबंध जोड़ कर आत्मीयता का परिचय देना होगा। क्या तुम यहाँ की परिस्थितियों को जानते हुए आने की स्थिति में हो? मेरा अनुमान है कि तुममें यह बीज तो विद्यमान है पर क्या उसे अंकुरित तथा पल्लवित करने की क्षमता रखती हो?” और पत्र पाते ही थोर्बन ने उत्तर भी लिख दिया—“भैया! मुझे दुःख है कि आप अभी तक अपनी बहन को नहीं समझ पाए हैं। मेरी जीवन की सुख-सुविधाओं के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं है। मैं अपना मन कभी का भारत को समर्पित कर चुकी हूँ और अब बाह्य समर्पण तो एकमात्र दिखावा होगा। जाने कब से भारत आकर सेवा करने का भाव अपने मन में सँजोए बैठी हूँ। आपका निमंत्रण ईश्वरीय प्रेरणा है, भला इसकी अवहेलना कैसे कर सकती हूँ। मैं आ रही हूँ, प्रतीक्षा करना।” और थोर्बन एक महिला चिकित्सक तथा अन्य छः लड़कियों को लेकर तथा मैथोडिस्ट चर्च में विशेष प्रशिक्षण प्राप्त कर भारत की ओर चल दीं।

१८ अप्रैल १८७० को लखनऊ के लाल बाग में बाजार के बीच एक कमरा लेकर स्कूल की स्थापना की गई। बड़ी कठिनाई से छः बालिकाओं ने प्रवेश लिया। थोर्बन का विश्वास था कि निःशुल्क शिक्षा का महत्त्व शायद लोग न समझें अतः कुछ फीस अवश्य रखनी चाहिए। इसलिए निवास तथा वस्त्रों की स्वच्छता आदि के उन्होंने ५ रुपए प्रति माह शुल्क निर्धारित कर दिया। प्रातः उठ कर घंटी बजाने से लेकर विभिन्न विषय पढ़ाने तथा सफाई

आदि का सारा कार्य थोर्बन को ही करना पड़ता था, पर वह अधिक परिश्रम तथा कठिनाई से तनिक भी विचलित न हुई। स्वयं कठोर परिश्रम करती थीं और छात्राओं को भी उसी के अनुरूप ढालने का प्रयत्न कर रही थीं। उन्हें अपने प्रयत्न में बराबर सफलता मिलती गई। चंदे से इतना धन एकत्रित कर लिया कि एक पुराना मकान खरीद लिया। यही स्कूल बढ़ते-बढ़ते १६ वर्ष में कॉलेज के रूप में ख्याति प्राप्त कर गया।

छात्राओं की संख्या बढ़ने पर १५० रुपए मासिक पर अन्य सहायक अध्यापिका की नियुक्ति कर दी गई। धीरे-धीरे सहयोग से ब्लैकबोर्ड, संदर्भ पुस्तकें और वैज्ञानिक उपकरण सभी जुट गए। इन्हीं दिनों थोर्बन का स्वास्थ्य खराब हो गया और उन्हें अमेरिका जाना पड़ा। अमेरिका जाकर भी उस विद्यालय की प्रगति के संबंध में उनके प्रयत्न कम न हुए, बीमारी की स्थिति में भी वहाँ 'लखनऊ कॉलेज सोसायटी' की स्थापना की और विभिन्न कॉलेजों से संपर्क स्थापित कर सहायता के रूप में तीस हजार पाउंड एकत्रित कर लिए। फिर क्या था, लखनऊ का कॉलेज प्रगति की ओर अग्रसर होने लगा।

नैनीताल के वैसले स्कूल की स्थापना थोर्बन ने ही की थी। कानपुर में भी कन्याओं के लिए एक स्कूल की दो छात्राओं ने प्रथम बार में ही इंटरेंस की परीक्षा में कलकत्ता विश्वविद्यालय से विशेष स्थान प्राप्त किया था। उनमें एक लीलावती सिंह भी थीं जो लीलावती मुंशी के रूप में जानी जाती हैं। अपनी अस्वस्थता की चिंता न करते हुए अमेरिका में जब थोर्बन धन एकत्रित करने में लगी थीं उस समय लीलावती सिंह को भी अमेरिका बुला लिया ताकि कार्य और तीव्र गति से हो सके। लीलावती सिंह को 'लखनऊ कॉलेज' के लिए कितनी ही सभाओं में भाषण देने पड़े। एक बार तो अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति हैरिसन भी उस सभा में उपस्थित थे। उन्होंने जब लीलावती के धारा प्रवाह भाषण को सुना तो यही कहना पड़ा—“थोर्बन भारत में शिक्षा के प्रसार के लिए जो कार्य कर रही हैं उसका अनुमान इस अकेली महिला वक्ता से आँका जा सकता है।” सन् १८७५ में लखनऊ में हैजा फैल गया। वह चर्च की ओर से आयोजित नर्सिंग सेवा में लग गई। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय द्वार पर आता वह उसकी सहायता के लिए तैयार रहती। जब कोई

छूत की बीमारी का डर दिखाता तो वह मुस्कराकर यही कह देतीं—
 “यदि सेवा करते प्राण भी छूट जाएँ तो इससे बढ़कर आत्म-संतोष
 क्या हो सकता है।”

हैजे के भीषण प्रकोप के समय रोगियों की सेवा करते रहने पर
 भी उन्हें कुछ न हुआ। पर जब १९०० में अमेरिका से भारत लौटीं तो
 एक वर्ष बाद हैजे की शिकार हो परलोक सिधार गईं। भारत इजाबेला
 थोर्बन की सेवाओं को कभी न भूल सकेगा।

सेवा की प्रतिमूर्ति

माता टेरिजा

‘मिशनरीज ऑफ चैरिटी’ (दया-धर्म-प्रचारक) नामक संस्था
 की संस्थापिका को लोग माता टेरिजा कह कर पुकारते हैं। माता
 टेरिजा वास्तव में माता रूप ही हैं। माता का अर्थ किसी संतान को
 पैदा करना नहीं है। मातृत्व का यथार्थ अर्थ है—असहाय एवं असमर्थों
 की सेवा करना। दुःखी का दुःख दूर करना, अनाथों को शरण देना।
 मातृत्व का तात्पर्य है—जीवों को दया, सहानुभूति और आश्वासन
 प्रदान करना। मातृत्व का लक्षण है—प्रेम, करुणा और
 परदुःखकातरता। जिसमें ये गुण हैं वह निश्चय ही माता है। फिर
 उसने चाहे कोई प्रजनन किया हो या न किया हो। माता टेरिजा में
 मातृत्वपरक ये सारे गुण अपनी चरमावस्था में विद्यमान हैं। इसलिए
 यदि लोग उन्हें माता पद से संबोधित करते हैं, तो ठीक ही करते हैं।
 इसमें कोई अन्यथा बात नहीं है।

माता टेरिजा एक यूगोस्लाव महिला हैं और उनका पहला नाम
 ‘जोगज्हा’ था। टेरिजा उनका वह नाम है जो उन्हें कलकत्ता के
 लोरेत्तो मठ में सन्यास लेने के बाद प्रदान किया गया था। अब से
 लगभग ३९-४० वर्ष पूर्व वे कलकत्ता आई थीं ओर सेंटमेरी हाईस्कूल
 में अध्यापिका के पद पर नियुक्त की गई थीं।

माता टेरिजा के हृदय में जन-सेवा की भावना हिलोर लेती
 रहती थी। अध्यापन के बाद उनके पास जो भी समय बचता था,
 उसमें वे नगर के विभिन्न भागों में निकल जाती थीं और जन-
 सेवा द्वारा अपनी आत्मा का अनुरंजन करती थीं। अपने इसी क्रम
 में उन्होंने देखा कि कलकत्ता के विभिन्न भागों में ऐसे गंदे और

पिछड़े लोग रहते हैं, जिन्हें मनुष्यता पर यदि कलंक कह दिया जाए तो भी असंगत न होगा। ऊपर से नीचे और बाहर से भीतर तक गंदगी से लदे होने के साथ-साथ उनमें अपराधों, दुर्व्यसनों, नशों और अंध-विश्वासों की मात्रा भी कम न थी। अशिक्षा, अज्ञान और असभ्यता में क्या स्त्री और क्या पुरुष, क्या बालक और क्या वृद्ध सभी बुरी तरह डूबे हुए थे। माता टेरिजा ने अनुभव किया कि केवल शेष समय में इनकी सेवा करके न तो इन्हें ऊपर उठाया जा सकता है और न इनका जीवन बदला जा सकता है। इनके सुधार और सेवा में सारा जीवन दे देने पर ही कुछ काम हो सकता है।

दुःखी-दरिद्रों की आवश्यकता और उनकी परिपूर्ण सेवा-भावना ने उन्हें आत्म-जीवन से उदासीन बना दिया और माता टेरिजा ने भरी जवानी में ही आजीवन कौमार्य का व्रत लेकर संन्यास ले लिया। अपने कार्यों, भावों तथा आचरण द्वारा उन्होंने अपने इस आध्यात्मिक संस्कार को चरितार्थ करके दिखला दिया। यद्यपि मठ के नियमानुसार युवती संन्यासिनों को रात में देर तक बाहर रहने की अनुमति नहीं थी, किंतु माता टेरिजा को इस प्रतिबंध से मुक्त कर दिया गया था। लोगों को उन पर और उन्हें लोगों पर विश्वास था।

माता टेरिजा अपनी सेवा-साधना से जिस उच्च एवं पुनीत मानसिक स्तर पर पहुँच गई थीं, वहाँ से संसार के सारे मनुष्य उन्हें पुत्र रूप में ही दिखलाई देते थे और अपनी इन धाय, परिचारिका तथा पोषिका को सभी लोग माता रूप में देखते थे। इतना ही नहीं यदि यह कहा जाए कि अपनी आत्मिक उन्नति के कारण माता टेरिजा लिंग भेद तक भूल कर स्त्री-पुरुष दोनों के साथ मिलकर अभेद रूप हो गई थीं तो भी गलत न होगा। इसी विश्वस्त आचरण और उदात्त चरित्र के कारण उन्हें देर तक ही नहीं पूरी रात तक बाहर सेवा कार्यों में लगे रहने की स्वतंत्रता थी।

तन, मन, और आत्मा से उज्ज्वल माता टेरिजा भारतीय ढंग की एक उज्ज्वल धोती पहने नित्य निकल जातीं और नगर के उन भागों में अपना सेवाकार्यक्रम चलातीं, जहाँ गरीबी और गंदगी का राज्य होता। वे अपनी उज्ज्वल वेश-भूषा और उज्ज्वल मूर्ति में उन अँधेरी बस्तियों में दया का प्रकाश करने वाली देवी-सी लगती थीं।

लोग उन्हें देखते ही श्रद्धा से नत-मस्तक और आनंद में विभोर हो उठते थे। झुंड के झुंड गरीब और पतित लोग उन्हें घेर लेते थे और अपनी पीड़ा सुनाने लगते थे। माता टेरिजा सबकी सुनतीं और यथासाध्य सहायता करती थीं।

वे रोगों से कराहते लोगों की सेवा करतीं, उन्हें दवा देतीं और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से दुःख दूर करतीं। वे देखतीं कि बच्चे गंदे, भूखे और अस्त-व्यस्त दशा में हैं। वे उन्हें पुचकारतीं, प्यार करतीं और अपने साथ लाई चीजें खाने को देतीं। गंदे वस्त्र उतार कर वे धुले वस्त्र पहना देतीं जिन्हें वे धोकर अपने साथ लाई होतीं। वे थोड़ी देर बच्चों के साथ खेलती-हँसती और इस प्रकार उन्हें हँसा कर माता-पिता को यह ज्ञान देकर चली जातीं कि बच्चों को कैसे रखना चाहिए और उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए? माता टेरिजा वहाँ जातीं, जहाँ व्याधि ग्रस्त बूढ़े खाँसते हुए राम-राम रट रहे होते। वे गुरुतापूर्ण संबोधन से उन्हें बुलातीं, हाल पूछतीं और दवा देतीं। वृद्धजन उन्हें केवल माता कहकर बुलाते ही नहीं अपितु ऐसा अनुभव करते जैसे उनकी दिवंगत माता ही उनके रूप में आ गई हो।

वे पतित और अपावन नारियों के बीच जातीं और उन्हें अपनी पवित्रता से प्रभावित करतीं। जीवन के महत्त्व और उसके सदुपयोग की शिक्षा देतीं। उन्हें आजीविका का मार्ग बतलातीं और व्यवस्थित गृहस्थी बसा कर रहने का सुख और सौंदर्य दर्शातीं। वे लड़ाका, कलहनी और गाली बकने वाली स्त्रियों को स्त्रियोचित शील, संकोच और शालीनता की प्रेरणा देतीं, उनका परस्पर मेल कराती और लड़ाई-झगड़े से होने वाली हानियों का रूप दिखलातीं। वे अपराध, दुर्व्यसनी और दुष्टताग्रस्त आदमियों से अपना सुधार करने की प्रार्थना करतीं और शराब, चंडू अथवा चरस आदि नशों का त्याग करने के लिए आत्मीयतापूर्ण आग्रह करतीं।

उनके कामों को देखकर और भी अन्य बहुत से स्त्री-पुरुष उनके साथी और सहयोगी हो गए। यह संख्या धीरे-धीरे दो-सौ के लगभग पहुँच गई। अब तो माता टेरिजा का कार्यक्रम बड़ी-बड़ी योजनाओं के रूप में विकसित हो चला और वे शीघ्र ही इस योग्य हो गईं कि 'मिशनरीज ऑफ चेरिटी' नामक संस्था की स्थापना कर सकें। संस्था स्थापित हो गई और निर्देश तथा योजना ले लेकर सेवक, स्वयंसेवक और धर्म सैनिक दूर-दूर तक फैल कर परमार्थ

कार्य करने लगे। माता टेरिजा के पुण्य और यश की सीमाएँ विस्तृत हो गईं। उनका स्तर सार्वदेशिक हो गया।'

उनका सेवा-कार्य बंगाल के कलकत्ता और आसनसोल आदि स्थानों से बढ़कर दिल्ली, आगरा, राँची, झाँसी, अंबाला, अमरावती और बंबई आदि महानगरों तक जा पहुँचा जहाँ उन्होंने पचास-साठ सेवा केंद्रों की स्थापना की, जिनके अंतर्गत सैंकड़ों बालक-बालिका पाठशालाएँ, बीसियों अस्पताल और चिकित्सालय, दसियों आश्रम तथा शिशु विकास केंद्र खुले और चल पड़े। इनमें सात-साठ तो ऐसे साधन संपन्न कुष्ठ चिकित्सालय हैं, जिनमें लगभग दो ढाई हजार रोगियों की सेवा-सुश्रूषा होती है। उनके चलाए सात सामान्य अस्पतालों में प्रतिवर्ष तीन-चार हजार रोगियों को चंगा किया जाता है। आश्रम एवं सहायता-गृहों में हजारों बालक-बालिका न केवल आश्रय ही पाते हैं, बल्कि उच्च से उच्चतर शिक्षा भी पा रहे हैं।

माता टेरिजा के इन महान सेवा कार्यों के लिए मनीला की 'रैमोन मैग्सासे पुरस्कार समिति' ने उन्हें अठारह हजार डालर का विश्व-बंधुत्व पुरस्कार प्रदान कर उन्हें सम्मानित किया। माता टेरिजा न केवल उस पुरस्कार की ही बल्कि संसार के किसी भी महान से महान पुरस्कार के सर्वथा योग्य ही मानी जाएँगी। इसके अतिरिक्त आत्म-विकास और परमात्म-मिलन जैसा अक्षय परमार्थजन्य पुरस्कार तो उनके लिए सुरक्षित ही है। वह उन्हें मिलना ही है, मिलेगा भी, सभी परमार्थ परक-सेवा-भावियों को मिलता है। किंतु शायद इस पुरस्कार को भी वे जन-सेवा में उसी प्रकार लगा देंगी, जिस प्रकार उन्होंने अठारह हजार डालर का मनीला का रैमोन मैग्सासे पुरस्कार लगा दिया।

मानवता की पक्षधर डोरोथिया डिक्स

मार्च १८४१ का एक रविवार। बोस्टन नगर निवासिनी छरहरे बदन की लजीली युवती कुमारी डोरोथिया लिंड डिक्स, ईस्ट केंब्रिज, मेसाचुसेट्स के नगर प्रांतर स्थित हाउस ऑफ कारक्शंस की रविवारीय कक्षा समाप्त कर अपने घर लौटी तो उसका मन

खिन्न व उदास था। वह किन्हीं भयानक विचारों के भँवर में फँसी हुई लग रही थी। उसने जेल में चार विक्षिप्त मनुष्यों को बड़ी ही करुणाजनक स्थिति में देखा था। यह उसी की प्रतिक्रिया थी। उनके रहने की कोठरियाँ इतनी तंग, अँधेरी, गंदी व सीलन भरी थीं कि उनमें सुअर भले ही रह सकें, मनुष्य कदापि नहीं रह सकते थे।

कोमल हृदय इस तरुणी के मन पर उनकी इस कारुणिक स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ा। पागल सही किंतु वे मनुष्य तो हैं ही। उन्हें इस नारकीय स्थिति में रखा जाना उसे कतई नागवार गुजरा। ऐसी स्थिति में रहकर तो स्वस्थ मस्तिष्क का व्यक्ति भी पागल हो जाए, तो वे पागल भला कब ठीक हो सकते हैं। यदि उन्हें ठीक तरह रखा जाए तो बहुत संभव है कि उनका विकृत मस्तिष्क ठीक हो जाए। किंतु ऐसी दशा में तो यह संभावना नितांत असंभव ही है। उनके साथ मनुष्यों जैसा व्यवहार तो होना ही चाहिए।

इस घटना ने उस युवती के जीवन को एक नवीन उद्देश्य प्रदान किया। यह उद्देश्य था इन विकृत मस्तिष्क मनुष्यों की दशा में सुधार करवाने के लिए संघर्ष करना। शरीर से जब मनुष्य रुग्ण हो जाता है तो उसकी चिकित्सा कराई जाती है, उसकी सेवा-सुश्रूषा की जाती है, उसे स्वस्थ मनुष्यों से अधिक सुविधाएँ-सुख दिया जाता है, जिससे कि उसको स्वास्थ्य लाभ हो सके। मानसिक रूप से रोगी मनुष्यों के साथ भी होना तो यही चाहिए, किंतु होता इसके विपरीत ही है। अतः वह उनके लिए संघर्ष करेगी और उन्हें अच्छी परिस्थितियाँ में रखा जाए-इसके लिए आवाज उठाएगी। यह उसके जीवन का ध्येय होगा।

सामान्य मनुष्यों के लिए डोरोथिया का यह संकल्प महज एक हठ-पागलों के लिए किया जाने वाला पागलपन ही था। किंतु वास्तव में यह कोरा हठ नहीं था और न पागलपन ही। उसके पीछे डोरोथिया की ममता, करुणा, संवेदनशीलता व बुद्धिमत्ता जुड़ी थी। वह अपने इन प्रयासों में सफल होकर रहीं। उन्होंने अमरिका में ही नहीं विश्व के सभी मानसिक रुग्णों के लिए उत्तम जीवन का पथ प्रशस्त किया।

इस संबंध में उन्होंने अधिक जानकारी पाने का प्रयास किया तो उन्हें यह ज्ञात हुआ कि ईस्ट केंब्रिज में विकृत मस्तिष्क लोगों को

जिन नारकीय परिस्थितियों में रखा जाता है उसी से लोग संतुष्ट हैं। इन्हें खतरनाक जानवरों की तरह जंजीरों में जकड़ कर रखना तथा काल-कोठरियों में बंद कर देना ही उपयुक्त समझा जाता है। यही नहीं इन पागलखानों के प्रबंधक दर्शकों से फीस लेकर उन्हें इन बेचारों की दीनता व विडंबना से पाशविक रस लेने की सुविधाएँ भी देते थे। लोग इन भाग्य के मारों की बड़बड़ाहट सुनने व उन पर कंकड़-पत्थर व लकड़ियाँ फेंक कर उन्हें परेशान करने में प्रसन्नता का अनुभव भी करते थे।

एक शताब्दी पहले विकृत मस्तिष्क के मनुष्यों के रोगोपचार की यही स्थिति थी। इन लोगों को इस विभीषिका से मुक्त कराने के लिए किसी देवदूत के अवतरण की आवश्यकता थी। यह देवदूत और कोई नहीं कुमारी डोरोथिया ही थी जिन्होंने चालीस वर्षों तक इनकी स्थिति सुधारने के लिए कठोर श्रम किया।

उन्होंने विक्षिप्त गृहों से संबंधित उच्चाधिकारियों का ध्यान अपने पत्रों व व्यक्तिगत वार्तालाप द्वारा आकर्षित किया। उनके इस प्रयास को अधिकारियों ने स्त्री प्रकृति के विपरीत ही बताया। उन्होंने थोड़ी सी स्नान-शौच आदि की व्यवस्थाएँ जुटाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया।

इस आंशिक सफलता को दूसरे शब्दों में असफलता भी कहा जा सकता है किंतु कुमारी डोरोथिया इस असफलता से निराश नहीं हुई। उन्होंने दो वर्ष तक ईस्ट केंब्रिज के विक्षिप्त गृहों के संबंध में पर्याप्त जानकारी संचित की व अनुसंधान किया। इसके अनंतर उन्होंने उक्त विषयक एक विनम्र निवेदन जनता व उच्चाधिकारियों की सेवा में भेजा। यह निवेदन विक्षिप्त गृहों का कारुणिक कच्चा चिट्ठा था। उसमें स्थान, व्यक्ति व समय का पूरा-पूरा उल्लेख किया गया था।

इन विक्षिप्त गृहों में महिलाएँ भी थीं। बोस्टन नगर के पागलखाने की एक स्त्री बंदिनी का बड़ा ही मर्मस्पर्शी कारुणिक चित्र उन्होंने खींचा था। इसी प्रकार न्यूटन नगर की एक विक्षिप्त महिला को जंजीरों से जकड़ कर प्रसाधन गृह जैसे छोटे से गंदे कमरे में डाल रखने का भी उल्लेख था। ऐसे कई वर्णन उसमें भरे पड़े थे।

उनका यह प्रयास असफल नहीं गया। विधान बनाने वाली सत्ता ने उनकी इन तथ्यपूर्ण बातों को ध्यान से पढ़ा और उन पर

विचार किया। फलतः मेसाचुसेट्स विधान सभा ने तत्काल वरसेस्टर चिकित्सालय में दो सौ विकृत मस्तिष्क मनुष्यों के लिए अच्छे कमरों की व्यवस्था की। भविष्य में और भी व्यवस्था करने का आश्वासन विधान सभा ने दिया।

कुमारी डोरोथिया का यह अभियान एक स्टेट में अपनी विजय के बाद ही रुक नहीं गया। अब तो उन्हें जनता से अभिजात्य वर्ग से धन व समर्थन का सहयोग भी मिलने लगा था। इस संघर्ष के दौरान अब्राहम सीमेन नामक विक्षिप्त का नाम सारे अमेरिका में जाना जाने लगा क्योंकि उसकी दुर्दशा को लेकर अमेरिका के समाचार पत्रों में बहुत कुछ छपा था। यह सब कुमारी डोरोथिया का ही काम था।

रिहोड द्वीप के बाद न्यू जर्सी व पेंसिलवानिया का नंबर आया। बीस वर्ष तक वे अमेरिका के एक कोने से दूसरे कोने तक इसी उद्देश्य से भ्रमण करती रहीं। कभी उन्हें घोड़ा गाड़ी में सफर करना पड़ता तो कभी वाष्प नौका से, कभी घोड़े की सवारी करनी पड़ती थी तो कभी पैदल भी चलना पड़ता था। उन्होंने इन वर्षों में कोई १०,००० मील की यात्रा की, १८ स्टेट्स में वे गईं तथा ३०० जेलों व ५०० विक्षिप्त गृहों का निरीक्षण किया। इनके अतिरिक्त शताधिक चिकित्सालयों तथा शरणार्थी शिविरों में भी वे गईं जहाँ विक्षिप्तों को रखा जाता था।

इन यात्राओं के दौरान कई बार उनके प्राण संकट में पड़े। कई बार दुर्घटना होते-होते बची। एक बार तो वे डाकुओं के फंदे में पड़ गईं। डाकुओं में से एक व्यक्ति उन्हें जानता था। उसने इस परमार्थ परायण महिला को सविनय मुक्त कर दिया। उनका साहस व मनुष्यत्व के प्रति सहज विश्वास अटूट था। वे न्यू जर्सी में ऐसे पागल के निकट बेधड़क होकर चली गईं जिससे जेल के अधिकारी व वार्डन भी भय खाते थे। उन्होंने उन्हें सचेत भी किया था—“ऐसे खूँख्वार पागल के पास मत जाइए।” किंतु वह मानी नहीं, उसके पास गईं और उसे उसके नाम से पुकारा। वह उनके इस व्यवहार पर रो पड़ा। उन्होंने अपने इन प्रयासों से सिद्ध कर दिया कि यदि इन लोगों को ढंग से रखा जाए, उचित व्यवहार किया जाए तो उनके मानसिक रोग को दूर किया जा सकता है।

अमेरिकन गृह युद्ध के समय उन्होंने महिला नर्सों के अधीक्षक का कार्य किया। चार वर्षों तक उन्होंने दिन-रात घायलों का उपचार किया। युद्ध समाप्ति पर पुनः वे अपने पहले वाले काम में जुट गईं तथा मृत्यु पर्यंत उस व्रत को निभाती रहीं जिसे उन्होंने यौवन के उषाकाल में लिया था। अस्सी वर्ष की आयु में उनका देहांत हुआ। प्रशंसा से सर्वथा दूर रहने वाली इस महिला का व्यक्तित्व व कर्तृत्व सराहनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है।

सोलडाड की संरक्षिका

डोना लिलियन

सत्रह वर्षीया सुंदर छरहरे बदन की किशोरी पहली बार अपने दूल्हे के साथ उसके श्वसुर द्वारा खरीदे गए इस वन प्रदेश को कौतूहल पूर्वक देख रही थी। उसकी नीली आँखों की परिधि में भी नहीं समा पाने वाला यह प्रांतर पश्चिम के रबर के वृक्षों तथा अपनी धुन में बहते हुए निर्झरों से लेकर पूर्व में अमेजन नदी के बेसिन तक फैला था।

यह युगल २४०० मील की समुद्री यात्रा कर दक्षिणी अमेरिका के इस प्रदेश में पहुँचा था। न्यूयार्क वासी व्यापारी की कन्या लिलियन ने गगनचुंबी भवन तो देखे थे किंतु ऐसी छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ तथा उनमें रहने वाले विचित्र रेड इंडियन नहीं देखे थे। सभ्यता के प्रकाश से दूर ये लोग अपना जीवन उसी पुराने तरीके से चला रहे थे। इन विचित्र वेशभूषा वाले लोगों तथा जंगली जानवरों से अटे प्रदेश से उसे कतई दिलचस्पी नहीं थी। उसकी लावण्यमयी आँखों में मादक स्वप्न तैर रहे थे। उसे इस प्रदेश से कुछ लेना-देना नहीं था। उसका पति न्यूयार्क नगर में इंजीनियर था।

उस समय लिलियन को क्या पता था कि उसके जीवन का अधिकांश समय इसी प्रदेश में यहाँ के निवासियों की सेवा-सहायता तथा संरक्षण करने में व्यतीत होगा, यही उजाड़ वन्य क्षेत्र उसकी कर्मस्थली बनेगा तथा यहाँ के निवासी उसे देवी की तरह पूजेंगे।

१९२६ में उसे अपने पति के साथ इसी प्रदेश में सदा के लिए रहने के उद्देश्य से लौटना पड़ा। विश्वव्यापी मंदी के दिनों में

अमेरिका ही नहीं विश्व के सभी देशों की आर्थिक स्थिति गिरने लगी थी। फलतः उसके पति अलबर्ट की नौकरी जाती रही। श्वसुर का देहांत पहले ही हो चुका था। अब उनके लिए रबर उत्पादन करने वाला वह वन प्रदेश तथा युरीमागवा गाँव के दो-चार मकान ही उनके परिवार के आश्रय स्थल शेष रहे थे।

यहाँ आकर डोना लिलियन दूसरी ही महिला बन गई। पहले उसे जंगल तथा जंगली जानवरों के नाम से कँपकँपी छूटती थी। बाद में वह सोलडाड प्रदेश की, जहाँ से कई पुरुष भी डरकर भाग गए थे, संरक्षिका बन गई।

यहाँ के निवासी जो उसे असभ्य लगते थे वही अब उसके साथी बन गए थे। इनके निकट रहकर उसने देखा कि उन्हीं को सच्चे सहयोग की आवश्यकता है। इन भोले-भाले अशिक्षित आदिवासियों में कई ऐसे मानवीय सद्गुण तथा जीवन की सफलताएँ विद्यमान हैं जिनका सभ्य कहे जाने वाले संसार में लगभग लोप ही हो चुका है। सादगी, श्रद्धा, विश्वास, सेवा तथा प्रेम के रसों से इनका जीवन घट लबालब भरा हुआ है।

न्यूयार्क महानगर में रहते हुए उसने वहाँ के संपन्न किंतु अशांत जीवन को निकट से देखा था। जीवन में गति तो आवश्यक है किंतु यह भाग-दौड़ तो सदा के लिए शांति को खो बैठना ही है। मशीनों तथा निर्जीव मुद्रापत्रों की ललक ने मनुष्य का सुख-चैन छीन लिया है। वहाँ की अपेक्षा इस विरल संख्या युक्त प्रदेश में शांति है, सुख है।

औद्योगीकरण प्रक्रिया ने जन समुदाय को दूर-दूर से उठाकर एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। अधिक वस्तुएँ उपलब्ध होने पर उनका मूल्य कम हो जाता है वैसे ही मनुष्य के मूल्य को घटते हुए भी लिलियन ने देखा था। वहाँ जीवन की दौड़ कृत्रिम हो गई थी कि मनुष्य को मनुष्य की तरह सोचने की फुर्सत ही नहीं मिलती थी। यहाँ आकर उसने अपने समक्ष विशाल कर्मक्षेत्र खुला पाया जहाँ स्वार्थ और परमार्थ, धरती व आकाश की तरह क्षितिज पर चिर मिलन की मुद्रा में खड़े उसकी अगवानी कर रहे थे। यह सोचकर वह हर्ष विभोर हो गई। उनका मन कह पड़ा—“अरे! अब तक मैं जीवन के सच्चे सुख से वंचित ही थी।”

आज लिलियन डी एकोस्टा पीरू के अमेजनिया क्षेत्र की जानी मानी महिला हैं। इस सोलडाड नामक वन प्रदेश की वह

स्वामिनी ही नहीं वहाँ के आठ सौ रेड इंडियनों की संरक्षिका तथा पालनकर्ता भी हैं। १९४७ में अपने पति अलबर्तो के देहावसान के पश्चात वह अकेली ही इस प्रदेश को संभाल रही हैं। एक दुबली-पतली, शारीरिक शक्ति में न्यून इस महिला ने जिस प्रकार भावनात्मक स्तर पर मानवीय संवर्धनों को इन भोले-भाले आदिवासियों से जोड़कर इस प्रदेश की, इसके निवासियों को प्रगति की है, वह आश्चर्यचकित करने वाली है। उनका यह प्रयास इस भ्रम तथा भ्रांत धारणा को समूल नष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि नारी पुरुष की तरह ही प्रत्येक कार्य में सक्षम नहीं है। जिस वन्य जीवन से परास्त हो कई पुरुष भाग गए थे उसे उन्होंने संपन्न करके दिखा दिया है।

दुःख के, रोग के तथा धनाभाव के क्षणों में पल-पल पर सहारा देने वाली यह सुनहरे केशों वाली क्षीणकाय महिला सोलडाड के निवासियों में देवी की तरह पूजी जाती है। वह उनकी न्यायकर्ता, आध्यात्मिक सलाहकार, घर-गृहस्थी के कामों की परामर्शदात्री, इंजीनियर, नगर प्रबंधिका तथा साहूकार सब कुछ है। उसके सामने अपराधी लोग भी अपना अपराध स्वीकार करते हिचकिचाते नहीं। सहायता माँगते समय किसी के मन में दैन्य का भाव नहीं आता। उसने इनके अँधेरे जीवन में एक नवीन ज्योति जलाई है। सभ्य कहे जाने वाले मनुष्यों के शोषण-उत्पीड़न से इन गरीब आदिवासियों को बचाया है।

भगवान भास्कर की प्रथम किरण के साथ ही उनका दैनिक जीवन क्रम चल पड़ता है। दिन भर का आधा समय वह अपने लिए तथा आधा समय वह सोलडाड निवासियों के लिए निकालती हैं। सोलडाड की दो सौ एक एकड़ की कृषि योग्य भूमि, पैसठ चौपाए तथा अनाज, धान, पपीता तथा अनन्नास के खेत-उपवन उन्हीं के अधिदर्शन (ओवरसियरी) का परिणाम है।

सोलडाड प्रदेश का आर्थिक आधार वहाँ के रबर के वन तथा जड़ी-बूटियाँ हैं। श्रीमती लिलियन इस जंगल में काम करने वाले १०८ रेड इंडियन परिवार की एक मात्र क्रेता, साहूकार तथा भंडारी हैं। वह उन्हें काम करते समय पहनने के वस्त्र, सुंदर वस्त्र, बारूद, हथियार तथा दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ उपलब्ध कराती हैं। यही नहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए तथा सामाजिक प्रगति के

लिए सभी प्रबंध वह मुफ्त ही करती हैं। उनके यह व्यावसायिक प्रबंध अपने निहित स्वार्थ के लिए नहीं वरन उन्हें समुचित मूल्य देने के लिए ही होता है।

सन् १९२७ में उनके पुत्र आस्टिन के श्वांस द्वार पर ऐंठन हुई, तथा उसके कारण उसका श्वांस लेना रुक गया। डॉक्टरों ने उसके श्वांस लेने के लिए एक धातु की नलिका उस स्थान पर फिट कर दी, साथ ही उन्होंने निराशा से सिर हिलाते हुए कह भी दिया—“यह अधिक दिनों तक बच नहीं सकेगा।”

यह लिलियन के लिए चुनौती थी। माँ की ममता कभी अपने से अपना शिशु दूर होते नहीं देख सकती। रात में जब आस्टिन सो जाता तो वह उसकी निगरानी किया करतीं कि कहीं नलिका में कोई अवरोध न आ जाए तथा आस्टिन को खोना पड़े। नित्य वह उस नलिका की सफाई करतीं। बड़े होने पर आस्टिन स्वयं उसकी सफाई कर लेता था किंतु रात्रि की यह सतर्कता तो जब तक वह पंद्रह वर्ष का नहीं हो गया उसकी माता को रखनी ही पड़ी।

सफाई करने में जितना समय लगता था उतनी देर तक आस्टिन बिना नली के श्वांस लेता था। इससे लिलियन के मस्तिष्क में एक विचार उत्पन्न हुआ—क्यों न इस समय को धीरे-धीरे बढ़ाते हुए एक दिन सदा के लिए आस्टिन को इस नलिका से मुक्त कर दिया जाए। वह अपनी प्रबल इच्छा शक्ति के बल पर इस कार्य में सफल भी हो गई।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय सेना को बारबेसो नामक झाड़ी की जड़ों की अत्यधिक मात्रा में आवश्यकता थी जो सोलडाड प्रदेश में होती थी। इस जड़ी से एक विषैली गैस निकलती है जो मनुष्य को विकलांग बना देती है। इसके अधिक संपर्क में रहने से लिलियन को पक्षाघात हो गया। वह पीरू की राजधानी लीमा के डाक्टरों के पास गई किंतु उन्हें निराशा ही हाथ लगी। हारकर उन्होंने अपने आधे सक्रिय शरीर से ही सोलडाड वासियों की सेवा करने का निश्चय कर लिया। उनकी आत्म विश्वास भरी जिजीविषा अंततः अमोघ औषधि सिद्ध हुई और वे क्रमशः रोग मुक्त होती चली गई। कुछ ही वर्ष उपरांत वह अपना सामान्य काम-काज सरलतापूर्वक कर सकने योग्य हो गई।

डाक्टरों ने जिस रोग को असाध्य बता दिया था उसका एक जड़ी-बूटी से ठीक हो जाना आश्चर्यजनक ही था। लिलियन के इस प्रकार स्वस्थ हो जाने ने चिकित्सा के नए आयाम खोलकर रख दिए।

समय के साथ सोलडाड प्रदेश की प्रगति होने लगी है। युरी मारवास अब दस हजार की आबादी का नगर हो गया है। रेल्वे, सड़कों तथा यातायात के साधनों का विस्तार हो गया है। इस प्रगति की रजत रश्मियों का स्वागत लिलियन मुस्करा कर रही हैं। अपने सहकर्मियों को इस योग्य बनाने में वह रात-दिन जुटी रहती हैं ताकि वे उसका भरपूर लाभ उठा सकें।

सत्रह वर्ष की आयु में इस बीहड़ वन प्रदेश, यहाँ के निवासियों की छोटी-छोटी झोंपड़ियों तथा चित्र-विचित्र वेश-विन्यास देखकर वह काँप सी उठी थीं। आज वह प्रदेश अपना रूप बदल रहा है, उसके साथ ही वे संभावनाएँ भी बढ़ रही हैं जो इन भोले-भाले आदिवासियों को लील सकती हैं। डोना लिलियन उनकी रक्षा ढाल की तरह कर रही हैं तथा उन्हें शिक्षित तथा सभ्य बना रही हैं।

ऐसी साहसी सेवा परायण महिलाओं की आज की त्रस्त मानवता को बड़ी आवश्यकता है। सजने-सँवरने तथा अपने आपको 'कामिनी' की विडंबना से बचाकर डोना लिलियन की तरह कर्म क्षेत्र में उतर पड़ने तथा धन्य हो जाने का साहस उत्पन्न करके हर कोई नारी अपने आपको पुरुष के समान सिद्ध कर सकती है।

